सच्चिदानंद सिन्हा

लोकतंत्र की चुनौतियाँ



लोकतंत्र की चुनौतियाँ

सच्चिदानंद सिन्हा

अब तक दलित और पिछड़ों के जातीय उभार का नकारात्मक पहलू काफी उजागर हुआ है। लेकिन लोगों की 'सेकुलर' आवश्यकताओं को जातीय 'गौरव' प्रदान कर बहुत दिनों तक नहीं टाला जा सकता। नेताओं के तामझाम की गरिमा में अपनी आर्थिक दैन्य को वे सदा के लिए नजरअंदाज नहीं कर सकते। जातीय पिछड़ेपन के भाव से मुक्त होने पर वे आर्थिक मुद्दों पर अधिक ध्यान देने लगेंगे भले ही जातीय नेता दूसरी जातियों से विवाद को जिलाने की कोशिश करते रहें। जैसे-जैसे दलित और अति पिछड़े राजनीति में महत्त्वपूर्ण होने लगेंगे वैसे-वैसे आर्थिक मुद्दों का महत्त्व साफ होगा क्योंकि ये जातियाँ लगभग बिना अपवाद, देश भर में भूमिहीन और संपत्तिहीन हैं जिनकी स्थिति सुधारने के लिए दो-चार लोगों को नौकरियों में आरक्षण देना बिल्कुल अपर्याप्त होगा और उनकी स्थिति अर्थव्यवस्था को समतामूलक बनाकर ही सुधारी जा सकती है। एक सीमा के बाद बिना आर्थिक समता के भेदभावहीन सामाजिक समरसता भी स्थापित नहीं की जा सकती। जैसे-जैसे आर्थिक और सामाजिक दूरियाँ कम होंगी जातियों से ऊपर उठ लोग शुद्ध रूप से मनुष्य के रूप में संवाद स्थापित कर सकेंगे और लोकतंत्र के बुनियादी-भाईचारे की तरफ संक्रमण संभव होगा। इस दिशा में हाल के वर्षों में आया आर्थिक भूचाल महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाएगा। भूमंडलीकृत दुनिया में संपत्ति के केंद्रीकरण से उत्तरोत्तर बड़ी संख्या में लोग आर्थिक दृष्टि से समाज के हाशिए पर डाले जा रहे हैं। इसमें दलित और पिछड़ी जातियों के अलावा तथाकथित अगड़ी जातियों के लोग भी भारी संख्या में अपने परिवेश से विस्थापित हो नगरों के फुटपाथों और झुग्गियों में दरिद्रता के समान साँचे में ढाले जा रहे हैं।

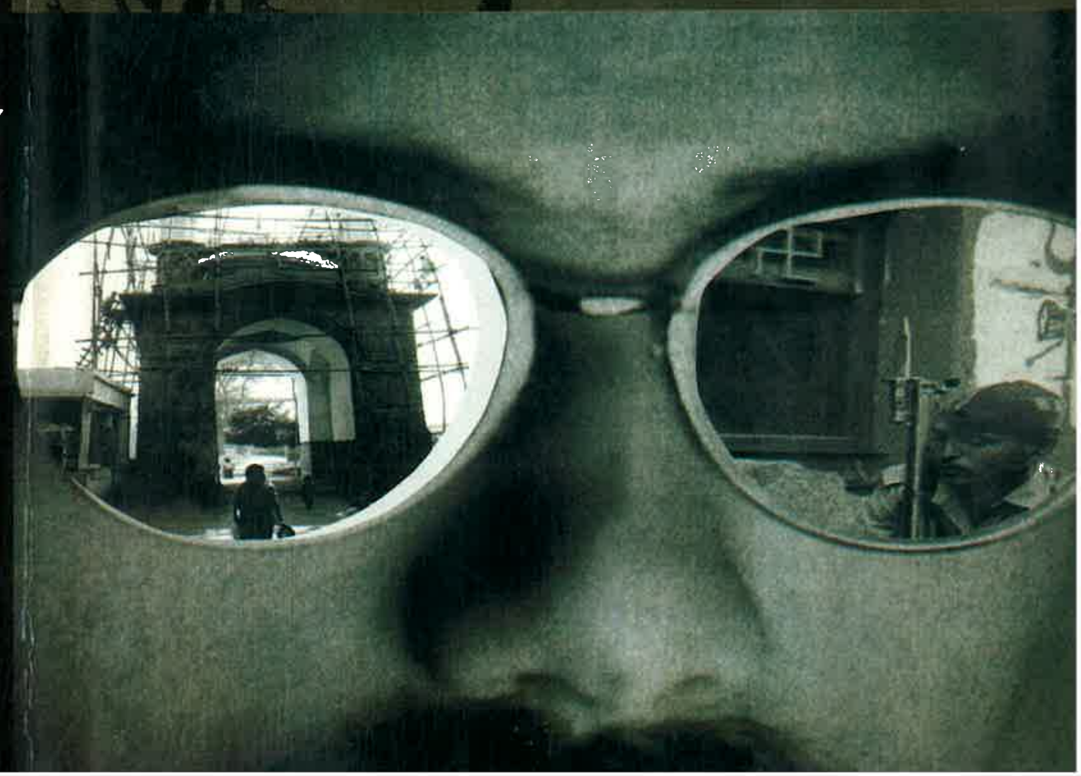
तक दलित और पिछड़ों के जातीय उभार का नकारात्मक
काफी उजागर हुआ है। लेकिन लोगों की 'सेकुलर'
श्यकताओं को जातीय 'गौरव' प्रदान कर बहुत दिनों तक नहीं
जा सकता। नेताओं के तामझाम की गरिमा में अपनी
क दैन्य को वे सदा के लिए नजरअंदाज नहीं कर सकते।
य पिछड़ेपन के भाव से मुक्त होने पर वे आर्थिक मुद्दों पर
क ध्यान देने लगेंगे भले ही जातीय नेता दूसरी जातियों से
द को जिलाने की कोशिश करते रहें। जैसे-जैसे दलित और
पिछड़े राजनीति में महत्त्वपूर्ण होने लगेंगे वैसे-वैसे आर्थिक
का महत्त्व साफ होगा क्योंकि ये जातियाँ लगभग बिना
वाद, देश भर में भूमिहीन और संपत्तिहीन हैं जिनकी स्थिति
रने के लिए दो-चार लोगों को नौकरियों में आरक्षण देना
कुल अपर्याप्त होगा और उनकी स्थिति अर्थव्यवस्था को
ामूलक बनाकर ही सुधारी जा सकती है। एक सीमा के बाद
आर्थिक समता के भेदभावहीन सामाजिक समरसता भी
त नहीं की जा सकती। जैसे-जैसे आर्थिक और सामाजिक
ँ कम होंगी जातियों से ऊपर उठ लोग शुद्ध रूप से मनुष्य के
में संवाद स्थापित कर सकेंगे और लोकतंत्र के
ादी-भाईचारे की तरफ संक्रमण संभव होगा। इस दिशा में
के वर्षों में आया आर्थिक भूचाल महत्त्वपूर्ण भूमिका
एगा। भूमंडलीकृत दुनिया में संपत्ति के केंद्रीकरण से
त्तर बड़ी संख्या में लोग आर्थिक दृष्टि से समाज के हाशिए
ाले जा रहे हैं। इसमें दलित और पिछड़ी जातियों के अलावा
कथित अगड़ी जातियों के लोग भी भारी संख्या में अपने
श से विस्थापित हो नगरों के फुटपाथों और झुग्गियों में
ता के समान साँचे में ढाले जा रहे हैं।

लोकतंत्र की चुनौतियाँ

सच्चिदानंद सिन्हा

सच्चिदानंद सिन्हा

लोकतंत्र की चुनौतियाँ



लोकतंत्र की चुनौतियाँ

लोकतंत्र की चुनौतियाँ

सच्चिदानंद सिन्हा

नवोदय सेल्स
ए-24, गली नं.-7, पश्चिमी विनोद नगर, दिल्ली-110092

ISBN : 81-88469-61-0

नवोदय सेल्स
ए-24, गली नं.-7, पश्चिमी विनोद नगर,
दिल्ली-110092 द्वारा प्रकाशित
संस्करण : 2012

शुभम ऑफ्सेट, शाहदरा, दिल्ली-110032
द्वारा मुद्रित

मूल्य : 250.00

नवोदय सेल्स, वाणी प्रकाशन की सहयोगी संस्था

विषय-सूची

भूमिका 7

(क) सांप्रदायिकता की चुनौती
1. भारत विरोधियों का पाँचवाँ दस्ता 15
2. भारतीय गणतंत्र का भीतरी संकट 20
3. एक वक्तव्य के मंतव्य 24
4. यह हिटलर का रास्ता है 29

(ख) आदमी विज्ञान के आईने में
5. नस्लवादी मान्यताएँ और जीन विज्ञान 37
6. प्रतिस्पर्धा या परस्पर सहयोग 46

(ग) अलगाववाद की समस्या
7. लोकतंत्र का सिकुड़न और अलगाववाद 59
8. कश्मीर : एक नया अध्याय 64
9. कश्मीरियत, भारतीयता और बदले संदर्भ 69
10. हत्या, दंड और प्रतिहिंसा 73

(घ) अर्थनीति और विकासनीति
11. कानकुन की बेगानी महफिल 81
12. छँटनी की होड़ 86
13. दूसरी दुनिया का नक्शा कहाँ है 91
14. विकास नीति और पर्यावरण 96
15. राजनीतिक गतिरोध कैसे टूटे 101
16. कैसा होगा आर्थिक नीतियों का चेहरा 106

(ङ) नीतिहीनता और अनैतिकता
17. भ्रष्टाचार की जड़ें 113
18. नीतिहीनता अनैतिकता की जड़ है 119

(च) पिछड़ी एवं दलित राजनीति की भूमिका
19. बदहाली के बीच सत्ता का खेल 127
20. जातीय गठजोड़ की रणनीति 131
21. राजनीति में आरक्षण का पासा 136
22. गाँठों में उलझा लोकतंत्र 140
23. नये संयुक्त मोर्चे की आवश्यकता 145
24. सामाजिक बदलाव में दलितों की भूमिका 153

भूमिका

जे. पी. ने कभी कहा था कि ''क्रांतियाँ अपना किताब खुद लिखती हैं'' वे यह बतलाना चाहते थे कि किसी महा-आख्यान द्वारा पूर्व निर्धारित लकीर पर चलने की बजाय क्रांतियों को अप्रत्याशित अवरोधों के बीच हर मुकाम पर नये सिरे से अपना मार्ग बनाना पड़ता है। विख्यात लेखक आर्थर कोएस्टलर ने स्पार्टकस के नेतृत्व में हुए गुलामों के विद्रोह पर लिखे अपने उपन्यास 'ग्लैडिएटर्स' में लॉ ऑफ डीटूर्स (टेढ़े मेढ़े रास्ते का नियम) का इसी अर्थ में वर्णन किया है। उसने यह बतलाने की कोशिश की है कि क्रांतियों को प्रायः अपनी सरल मान्यताओं से हटकर घुमावदार पथ अपनाना पड़ता है। निस्संदेह, इसमें आदर्शों से भटकाव का जोखिम रहता है। कोएस्टलर ने इस उपन्यास में एक ऐतिहासिक घटना के बहाने हमारे अपने समय की क्रांतियों के भटकाव का ही चित्रण किया है। जे. पी. ने ऊपर वाली बात तब कही थी जब वे छात्र आंदोलन के माध्यम से भारतीय लोकतंत्र के एक खास तरह के गतिरोध को तोड़ने की कोशिश कर रहे थे जिसे उन्होंने 'लोक' और 'तंत्र' के बीच बढ़ते फांक के रूप में देखा था यानी वह स्थिति जहाँ जन प्रतिनिधि और उनके द्वारा चलाई जा रही व्यवस्था जन भावनाओं से कट जाए। लेकिन मर्ज तात्कालिक नहीं था जिससे एक झटके में निजात पाई जा सके। इस छात्र आंदोलन से निकले नेताओं के स्खलन से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि समाज में ऐसे अप्रत्याशित दबाव बनते रहते हैं जिससे निकलने के लिए साफ दृष्टि, लक्ष्य के प्रति आस्था और दृढ़ संकल्प की जरूरत होती है।

किसी भी क्रांति या लोकतांत्रिक परिवर्तन के रास्ते में बाधाएँ दो कारण से उपस्थित होती हैं। पहली तो आदर्श की अवधारणा के संबंध में वैचारिक धुंध से जो प्रायः संबद्ध समूह की विशेष स्थिति की उपज होती है, और दूसरा बिल्कुल अलग परिवेश के कारण—जिसमें संबद्ध मानव समूहों का सामाजिक ढाँचा बिल्कुल अलग तरह का होता है जिसमें पहले तरह के आदर्शों को अमली रूप बिल्कुल अलग तरह से दिया जा सकता है।

यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी की

सभी क्रांतियों और जन-आंदोलनों की ऊर्जा का स्रोत फ्रांस की 1789 की क्रांति में उद्घोषित 'स्वतंत्रता, समता और भाईचारे' का आदर्श था। इस आदर्श का जनक उस समय वहाँ का नवोदित मध्यम वर्ग (बुर्जुआ) था जो राजा के स्वेच्छाचारी शासन और सामंती व्यवस्था की बंदिशों का अंत करना चाहता था। लेकिन इसमें हर तरह की गुलामी से मुक्ति का स्वर प्रतिध्वनित होता था चाहे वह अफ्रिकी मूल के लोगों की गुलामी हो, राष्ट्रों की गुलामी हो या जाति व्यवस्था, नस्ल और लिंग पर आधारित बंदिशों की जिंदगी हो। समता का अर्थ भी अत्यंत ही व्यापक था और यह संपत्ति मूल, नस्ल, जातपाँत, धर्म आदि के भेद से परे जा सभी मनुष्यों की समानता का आह्वान था। भाईचारे का नारा स्वतंत्रता और समता दोनों ही नारों के संयोजन से सभी मनुष्यों के बीच बंधुत्व स्थापित करने का आह्वान था क्योंकि भाईचारा तो समान और स्वाधीन लोगों के बीच ही संभव है। अंततोगत्वा यह उस सत्य की याद दिलाता था कि सभी मनुष्य एक ही मानववंश के हैं, बाकी भेदभाव झूठे आवरण और पाखंड हैं।

परिस्थितिजन्य आवरणों और इससे जुड़े विशेषाधिकारों का असर आदमी की सोच पर इतना गहरा होता है कि वह अपने संकुचित दायरे के बाहर निकल इसको तब तक छोड़ नहीं पाता जब तक नयी परिस्थितियों से साक्षात्कार, या बहिष्कृत समूहों के प्रतिकार उसके पूर्वग्रहों पर आघात नहीं करते। स्वयं फ्रांस की क्रांति के समय एक निर्मम संघर्ष का जन्म हुआ जब बुर्जुआ वर्ग की राजनीतिक स्वतंत्रता और समता के बरक्स फ्रांस के निर्धन वर्गों ने आर्थिक समता की माँग रखने की कोशिश की। इसी काल में बाबफ ने 'समान लोगों के घोषणा पत्र' नाम से सबसे गरीब तबकों के आर्थिक बराबरी के नारे को आगे बढ़ाया। एक तरह से क्रांतिकारी समाजवाद का यह पहला उद्घोष था। उस समय के स्थापित स्वार्थों के लिए यह इतना डरावना नारा था कि इसे दबाने की भरपूर कोशिश हुई और बाबफ को अंततः एक असफल विद्रोह के बाद मौत की सजा दी गई। यह पहला प्रयास था लोकतंत्र के अर्थ को फैलाने का। लेकिन इसके बाद से लगातार लोकतंत्र के अर्थ को नये परिवेशों के अनुसार अर्थ देने के प्रयास होते रहे हैं और इस तरह समता और स्वतंत्रता के विचार, जो बिल्कुल स्वाभाविक दिखाई देते हैं, विभिन्न समूहों के बीच टकराहट का कारण बनते रहे हैं। इस तरह लोकतंत्र का संघर्ष सीधी लकीर की बजाय टेढ़े-मेढ़े रास्ते से गुजरता दिखाई देता है। इसमें पूर्वग्रह और विविध हितों के इर्द-गिर्द उभरते उन्माद से आदर्श बार-बार धुँधले होते रहे हैं। समय की राख के भीतर से आदर्शों की चिनगारी के बार-बार प्रज्वलित होने से ही आज़ादी का दायरा फैलता रहा है। लेकिन यह संघर्ष आज भी नये रूपों में जारी है। जे. पी. क्रांति को कुछ ऐसा ही नया अर्थ देने का आह्वान कर रहे थे।

हमारा राष्ट्रीय आंदोलन भी कहीं न कहीं लोकतांत्रिक क्रांति के उन्हीं आदर्शों

से प्रेरित था जिसकी चर्चा ऊपर की गई है। यह कहना गैरजरूरी है कि जब आजाद भारत का संविधान बनाने का उद्यम हो रहा था तो यह साफ स्लेट पर तस्वीर बनाने का उद्यम नहीं था। सतह के नीचे से आजादी के पहले के संघर्ष और विवाद, विभाजन की त्रासदी और इसके पीछे से इस प्राचीन देश की विविध परंपराएँ भी तस्वीर पर अपनी छाया डाल रही थीं। इसलिए यह पूरी तरह पूर्वग्रह मुक्त ढाँचा नहीं बन सकता था। स्वाभाविक था कि उस समय तक प्रभावी रहे समूहों के विचारों की गहरी छाप इस संविधान पर हो। डॉ. भीमराव अंबेडकर की संविधान निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका से यह जरूर हुआ कि देश के दलित समूहों और उनके साथ-साथ सामाजिक रूप से दूसरे पिछड़े समूहों के लिए भी यथेष्ट 'स्पेस' इस संविधान में बना रहा। समय के साथ ही परिस्थितियों के संघात से संविधान के हितकारी और अहितकारी अर्थ खुलते रहे हैं। इसका एक फायदा यह है कि हमारा संविधान एक जड़ दस्तावेज नहीं है बल्कि इसमें इसकी मूल मान्यताओं और घोषित उद्देश्यों के आलोक में अधिक से अधिक लोकहितकारी रूप देते रहने की गुंजाइश है। पश्चिमी देशों के लोकतांत्रिक संविधानों से, एक अर्थ में, हमारे संविधान में मूलभूत फर्क है। जहाँ पश्चिम के लोकतंत्र पर वहाँ के आर्थिक मुद्दों की प्राथमिकता की छाप है हमारे यहाँ आर्थिक मुद्दों के अलावा जाति व्यवस्था, जनजातीय समूहों की विशेष स्थिति और देश के सांप्रदायिक बँटवारे की गहरी छाप भी लोकतंत्र के विकास पर रही है।

बीसवीं शताब्दी के तीस के दशक में यूरोप में नस्लवाद के आधार पर लोकतंत्र पर एक बड़ा संकट आ गया था जिसमें फासीवाद का उदय हुआ। लेकिन एक प्रलयंकारी विश्वयुद्ध के बाद कम से कम व्यवस्था पर उसका एकाधिकार खत्म हो चुका है—हालाँकि व्यवहार में जब तब उसकी झलक अब भी दिखाई देती है। हमारे यहाँ भी फासीवाद की तर्ज पर ही सांप्रदायिकता के आधार पर राजनीति को एक संकीर्ण और अधिनायकवादी स्वरूप देने के प्रयास होते रहे हैं। हमारे लोकतंत्र के विकास पर इसकी खतरनाक छाया लगातार बनी रही है। राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में कुछ सशक्त समूहों के हाथ सभी अधिकार केंद्रित करने के अलावा फासीवाद ने नस्ल एवं मूलों की श्रेष्ठता की, और इस आधार पर उनकी निगाह में 'हीन मानवों' के अस्तित्व को मिटाने या उन्हें प्रताड़ित करने की नीति भी अपनाई थी। इसके लिए उन्होंने इतिहास और जीव विज्ञान के सिद्धांतों को भी तोड़ने-मरोड़ने की कोशिश की थी जिससे मनुष्यों के आपसी संघर्ष और एक मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य के शोषण का औचित्य साबित किया जा सके और यह बतलाया जा सके कि जो सक्षम मनुष्य हैं अस्तित्व में उन्हीं के बने रहने की जरूरत है। पुस्तक के दो लेख इस विचार का खंडन करते हैं। इसमें एक लेख अराजकवादी नेता प्रिंस क्रोपोटकिन की सुप्रसिद्ध पुस्तक 'म्युचुअल एड' की समीक्षा के रूप में और दूसरा जीव विज्ञान के आलोक में वैज्ञानिकों द्वारा मानव वंशवृक्ष की पड़ताल पर आधारित है। चूंकि मूल और मजहब

के भेद के आधार पर आदमियों की भिन्नता और कुछ मानव समूहों की श्रेष्ठता का दावा हमारे देशज फासीवादी समूहों द्वारा होता रहा है ये लेख इस भ्रम का निराकरण करने का प्रयास भी हैं। इन लेखों द्वारा यह दिखलाने की कोशिश की गई है कि लोकतंत्र का सरोकार कितना व्यापक हो सकता है।

जाति व्यवस्था भारतीय समाज में सामाजिक संबंधों का अत्यधिक टिकाऊ ताना बाना है और अपने आप में निराला है। इससे सहज संप्रेषण, जो लोकतंत्र के लिए अनिवार्य है, काफी कठिन बन जाता है क्योंकि लोग एक-दूसरे को जातीय लेबुल को अलग कर शुद्ध रूप से मनुष्य के रूप में नहीं देख पाते। ऐसी संप्रेषणहीनता वर्गों के विभाजन से भी आती है। लेकिन चूंकि आदमी की वर्गीय स्थिति बदलती रहती है इस लेबुल को नजरअंदाज भी किया जा सकता है। पर जातीय विभाजन जन्म से लेकर मृत्यु तक के कर्मकांडों से ऐसा आवृत्त है कि आदमी को आदमी के बतौर देखने की जगह लोग किसी व्यक्ति को उसकी जाति के एक प्रतिरूप के बतौर ही देखते हैं और उसके प्रति लोगों की दृष्टि जाति के प्रति पूर्वग्रहजन्य सोच से ही निर्धारित होती है। इसलिए जाति आधारित विषमता को दूर करने के प्रयास काफी कठिन बन जाते हैं। दूसरी ओर अच्छे या बुरे किसी भी प्रयास के लिए जातियों को गोलबंद करना बहुत आसान होता है, खास कर अगर मुद्दा इस तरह से उठाया जाए कि वह जातीय भावनाओं को छूने वाला हो। अगर समाज में सकारात्मक बदलाव के लिए जातियों की सहज गोलबद्धता को जोड़ा जा सके तो ऐसे बदलाव के लिए ऊर्जा जुटाना आसान हो सकता है। जातीय विषमता को तोड़ने और समतामूलक समाज बनाने के मुहिम में आवश्यक ऊर्जा जुटाने के लिए समाजवादी नेता डॉ. राममनोहर लोहिया ने सोशलिस्ट विचारधारा में 'जाति नीति' का समावेश किया। उन्हें दक्षिण भारत में द्रविड़ आंदोलन की व्यापकता और उग्रता में इसकी संभावना दिखी। लेकिन इसमें दूसरी जातियों के लोगों के प्रति जलन के तत्त्व से वे आशंकित भी थे। इसलिए बाद में वे सदा इसके संभावित खतरों से समाजवादियों को सावधान करते रहे। उन्होंने 1959 में जाति नीति का विचार रखा जिसमें पिछड़ी जातियों, दलितों और महिलाओं को, जो समाज के नब्बे प्रतिशत हैं, नेतागिरी, अफसरी आदि में साठ प्रतिशत आरक्षण की माँग की थी और स्वयं अपनी पार्टी में इसको लागू कराया था। हालाँकि, जैसी कि उन्हें स्वयं भी आशंका थी इससे दलों और बाहर भी जातियाँ अधिक गोलबंद हुई। पिछड़ों में जातीय चेतना का उभार भी आया और साठ के दशक में कई राज्यों में संविद सरकारों के गठन के पीछे की ऊर्जा में, इसका भी कुछ हाथ था। लोहिया इसके खतरे को निरस्त करने के लिए जातियों को तोड़ने को प्रधानता देते रहे।

इसकी सकारात्मक और नकारात्मक संभावनाओं को जानेमाने, समाजशास्त्री धीरु भाई सेठ ने 1996 की अपनी टिप्पणी में यों व्यक्त किया था : "यह एक

अजीब और विरोधाभास वाली स्थिति है कि ये ही (जातिवादी और क्षेत्रीय) शक्तियाँ भारतीय जनता की लोकतांत्रिक आकांक्षाओं का भी प्रतिनिधित्व करती हैं। इस तरह स्थिति यह बनती है कि एक तरफ जातिवादी और क्षेत्रीय राजनीति बहुत सारे गरीब और दबाए गए समुदायों को जोड़ने और उनके जीवनयापन की आवश्यकताओं (सेकुलर इंटटेस्ट्स) को अभिव्यक्त करने की कोशिश करती हैं। तो दूसरी तरफ वे एक-दूसरे के बरक्स अपनी अलग-अलग पहचान की ऐसी बिलगाव वाली राजनीति करती है जिससे गरीब और दबाए हुए समुदायों के हितों पर आधारित एक व्यापक राजनीतिक गठबंधन बन नहीं पाता।" पुस्तक के कुछ लेखों में इस विरोधाभास की झलक मिलती है।

अब तक दलित और पिछड़ों के जातीय उभार का नकारात्मक पहलू काफी उजागर हुआ है। लेकिन लोगों की 'सेकुलर' आवश्यकताओं को जातीय 'गौरव' प्रदान कर बहुत दिनों तक नहीं टाला जा सकता। नेताओं के तामझाम की गरिमा में अपनी आर्थिक दैन्य को वे सदा के लिए नजरअंदाज नहीं कर सकते। जातीय पिछड़ेपन के भाव से मुक्त होने पर वे आर्थिक मुद्दों पर अधिक ध्यान देने लगेंगे भले ही जातीय नेता दूसरी जातियों से विवाद को जिलाने की कोशिश करते रहें। जैसे-जैसे दलित और अति पिछड़े राजनीति में महत्त्वपूर्ण होने लगेंगे वैसे-वैसे आर्थिक मुद्दों का महत्त्व साफ होगा क्योंकि ये जातियाँ लगभग बिना अपवाद, देश भर में भूमिहीन और संपत्तिहीन हैं जिनकी स्थिति सुधारने के लिए दो-चार लोगों को नौकरियों में आरक्षण देना बिल्कुल अपर्याप्त होगा और उनकी स्थिति अर्थव्यवस्था को समतामूलक बनाकर ही सुधारी जा सकती है। एक सीमा के बाद बिना आर्थिक समता के भेदभावहीन सामाजिक समरसता भी स्थापित नहीं की जा सकती। जैसे-जैसे आर्थिक और सामाजिक दूरियाँ कम होंगी जातियों से ऊपर उठ लोग शुद्ध रूप से मनुष्य के रूप में संवाद स्थापित कर सकेंगे और लोकतंत्र की बुनियादी-भाईचारे की तरफ संक्रमण संभव होगा। इस दिशा में हाल के वर्षों में आया आर्थिक भूचाल महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाएगा। भूमंडलीकृत दुनिया में संपत्ति के केंद्रीकरण से उत्तरोत्तर बड़ी संख्या में लोग आर्थिक दृष्टि से समाज के हाशिए पर डाले जा रहे हैं। इसमें दलित और पिछड़ी जातियों के अलावा तथाकथित अगड़ी जातियों के लोग भी भारी संख्या में अपने परिवेश से विस्थापित हो नगरों के फुटपाथों और झुग्गियों में दरिद्रता के समान साँचे में ढाले जा रहे हैं। यह स्टीम रौलर धीरे-धीरे परंपरा द्वारा पोषित ऊँच-नीच के भेद को सपाट करता जा रहा है। कुछ समय लग सकता है, पर इससे समान नागरिकता के भाव का स्थापित होना अवश्यंभावी है और इसमें अगुआई सबसे बड़ा पीड़ित समूह दलित करेंगे। शायद पहला बदलाव ताम-झाम वाले नेताओं की विदाई से होगा जो अतीत के अत्याचारों की अतिरंजित तस्वीर पेश कर वर्तमान की चुनौतियों से मुँह चुरा रहे हैं। ये नेता संघर्ष का अखाड़ा सदा अतीत में रखना चाहते हैं। यह रुझान दलित

और पिछड़े नेताओं में काफी व्यापक है और क्रांति की पहली पहल अतीत की बजाय वर्तमान की चुनौतियों से टकराने से होगी।

पुस्तक के लेख हाल के वर्षों में होनेवाली घटनाओं पर लिखे गए हैं जो जनसत्ता, सामयिक वार्ता और हिंदुस्तान में छपते रहे हैं। आशा है इन लेखों के एकत्रित छपने से समग्रता में लोकतंत्र की स्थिति और इसके सामने की चुनौतियों का थोड़ा आभास पाठकों को हो पाएगा। चूंकि लेख स्वतंत्र रूप से छपे थे कहीं-कहीं कुछ पुनरावृत्ति संभव है। ऐसे संकलन में यह अपरिहार्य है। घटनाओं को व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने से लोकतंत्र की तात्कालिक असफलता या अपर्याप्तता से जो निराशा का भाव पैदा होता है उससे बचा जा सकता है।

—सच्चिदानंद सिन्हा

(क)
सांप्रदायिकता की चुनौती

भारत विरोधियों का पाँचवाँ दस्ता

आजादी से पहले के अंतिम वर्षों में जैसा खतरा भारतीय राष्ट्रीयता के सामने उपस्थित हुआ था, आज फिर देश पर वैसा ही खतरा हिंदुत्ववादियों ने उपस्थित किया है। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि राष्ट्रीय विघटन की शक्तियों का सबसे बड़ा केंद्र आज गुजरात बना हुआ है जो महात्मा गाँधी की जन्मभूमि है जिन्होंने समेकित भारतीय राष्ट्रीयता की दृष्टि प्रदान करने में सबसे अहम भूमिका निभाई थी। जिस खतरे की बात की जा रही है उसके दो रूप हैं। एक रूप तो स्थूल और तात्कालिक है जो लोगों को आसानी से दिखाई देता है। लेकिन दूसरा रूप, जो राष्ट्र की बुनियाद को खोखला कर नष्ट करने वाला है, आम तौर से लोगों की आँखों से ओझल रहता है। हम अपनी बात पहले खतरे से प्रारंभ करेंगे। इधर कुछ महीने से भाजपा के नेतृत्व में चलने वाली सरकार लगातार इस बात का शोर मचाती रही है कि देश पर पाकिस्तान की ओर से लगातार परोक्ष युद्ध चलाया जा रहा है जिससे राष्ट्र की अखंडता और अस्तित्व पर खतरा पैदा हो गया है। इसी खतरे का भय बता कर भारत की सामरिक शक्ति का बड़ा भाग पाकिस्तान से लगी सीमा पर तैनात कर दिया गया है। इसके रखरखाव पर रोजाना करोड़ों रुपये का अतिरिक्त बोझ वहन किया जा रहा है। यदाकदा सीमा पर गोलीबारी होती रहती है जिंसमें न सिर्फ सेना के जवान, बल्कि सीमा के पास के गाँवों के लोग भी मारे जाते हैं। इससे भयभीत हजारों नागरिक विस्थापित हो जैसे-तैसे गुजारा कर रहे हैं। सीमा की सुरक्षा के लिए लगाए गए 'लैंड माइनों' से कितने ही सैनिक और असैनिक नागरिक हताहत हो चुके हैं या विकलांग हो गए हैं। खतरा सचमुच है या नहीं, या कितना है यह देश का आम नागरिक नहीं जान सकता। सुरक्षा मामलों में इतनी गोपनीयता होती है कि आम नागरिकों को सरकारी बातों को मानकर ही चलना पड़ता है, और आज पूरा देश यह मान कर चल रहा है कि देश की सुरक्षा पर बाहरी आक्रमण से खतरा पैदा हो गया है।

लेकिन इसी खतरे की घड़ी में हिंदुत्ववादियों ने राष्ट्र के खिलाफ एक नया मोर्चा अयोध्या में राम मंदिर निर्माण के नाम पर खोल दिया है। इसकी धमकियों और संभावित दंगों से निपटने के लिए, जो फैल कर गृहयुद्ध का रूप ले सकता

था, भारी संख्या में सैनिकों और अर्धसैनिक बलों को अयोध्या और उत्तर प्रदेश के विभिन्न हिस्सों में तैनात करना पड़ा। इस क्रम में जो कुछ गुजरात में हुआ उस पर विचार करने पर तो ऐसा लगता है कि पाकिस्तानी एजेंटों और गुजरात के हिंदुत्ववादियों में इस देश की एकता को नष्ट करने का कोई अव्यक्त समझौता है। गोधरा में नियोजित रूप से कुछ मुसलमानों ने (अभी तक यह जानकारी नहीं है कि इस नियोजन के पीछे किसका हाथ था) गाड़ी में सवार अयोध्या से लौटते कारसेवकों पर हमला किया और गाड़ी के डिब्बे में आग लगा कर बड़ी संख्या में लोगों को हताहत किया। इस घटना ने जैसे सिग्नल का काम किया हो, देखते-देखते लगभग पूरे गुजरात में हिंदुत्ववादियों की खूनी टोलियाँ निकल पड़ीं और निर्दोष मुसलमान औरत, मर्द और बच्चों को कत्ल करने और जला कर मार डालने में लग गईं। यह दंगा इतना सुनियोजित था कि सुरक्षा बलों के लिए इस पर काबू पाना मुश्किल था। गुजरात सरकार स्वयं नागरिकों को सुरक्षा प्रदान करने के अपने कर्तव्य के प्रति पूरी तरह लापरवाह थी, ऐसा अधिकतर प्रत्यक्षदर्शियों की रपटों से ज्ञात होता है। इतना ही नहीं, गुजरात के मुख्यमंत्री और कुछ अन्य मंत्रियों के बयानों ने दंगाइयों को उकसाने का ही काम किया।

अगर इसके बावजूद 1946-47 जैसे देशव्यापी दंगे नहीं हुए तो इसका श्रेय इस देश के आम नागरिकों को जाता है। विश्व हिंदू परिषद ने दंगा भड़काने के लिए गोधरा में मरे लोगों का अस्थिकलश ले यात्रा निकालने की योजना बनाई थी जो विरोध में राष्ट्रव्यापी प्रतिक्रिया होने से कार्यान्वित नहीं हो पाई। संघ परिवार ने राष्ट्रव्यापी आम हड़ताल का नारा देकर देश भर में सांप्रदायिक भावना उभारने का प्रयास किया, लेकिन देश के नागरिकों ने प्रायः इसे नजरअंदाज किया। गुजरात सरकार ने इन घटनाओं में मारे गए लोगों को मुआवजा देने और दंगे में विस्थापित लोगों के पुनर्वास के मामले में जैसा पक्षपातपूर्ण रवैया अपनाया वह हमारी समान नागरिकता और संविधान की भावनाओं का खुला उल्लंघन है। भारत की समान नागरिकता के सिद्धांत का यह अतिक्रमण बाहर से होने वाले किसी फौजी आक्रमण से कहीं अधिक विघटनकारी है। बाहर के जैसे आक्रमण की आशंका बताई जाती है उससे निपटने में भारत पूरी तरह सक्षम है। लेकिन उस खतरे से कैसे बचा जा सकता है जिससे वह आधार ही खत्म हो जाए जिस पर हमारी साझी राष्ट्रीयता टिकी हुई है।

भारत और पाकिस्तान का फर्क सिर्फ इतना नहीं है कि भारत में हिंदू बहुसंख्य हैं और पाकिस्तान में मुसलमान। अगर यही फर्क होता तो आजादी के पहले विभाजन के विरोध में देश के राष्ट्रीय नेताओं को कुछ कहने को नहीं होता। विवाद का असली मुद्दा तो यही था कि हमारे राष्ट्रीय नेता यह मानने को तैयार नहीं थे कि हिंदू और

मुसलमान दो अलग राष्ट्र हैं। अंग्रेजों ने 'विभाजित करो और राज करो' की नीति के तहत बार-बार यह साबित करना चाहा कि हिंदू और मुसलमान अलग कौम हैं। इसीलिए उन्होंने दोनों के लिए सांप्रदायिक आधार पर अलग मतदान की पद्धति लागू की। बाद में इसे दलितों के लिए भी लागू करने का प्रयास किया जो महात्मा गाँधी के आमरण अनशन और बाद के पूना पैक्ट से टल गया। असली मुद्दा राष्ट्रीय नेताओं की यह मान्यता थी कि धर्मों की विविधता के बावजूद भारत की एक साझा राष्ट्रीय संस्कृति है जिसे यहाँ के सभी धर्म और समुदाय के लोगों ने हजारों वर्षों में विकसित किया है। यही आधार रहा है यहाँ के लोगों के रहन-सहन, भाषा, नृत्य, संगीत, कला और स्थापत्य का। क्षेत्रीय भाषाएँ अलग-अलग रही हैं लेकिन किसी भी क्षेत्र के हिंदू, मुसलमान या दूसरे धर्मावलंबियों के लिए उस क्षेत्र की भाषा एक ही रही। बंगाल के हिंदू और मुसलमान बांग्ला भाषी और पंजाब के हिंदू, मुसलमान और सिख सभी पंजाबी भाषाभाषी रहे। धर्म के आधार पर लोगों को राष्ट्रों में बाँटना और भाषाई एकता को नकारना इतना ऊटपटाँग था कि अंततः पाकिस्तान इसीलिए टूटा और बंगलादेश अस्तित्व में आया।

नेताओं की महत्त्वाकांक्षाओं की टकराहट और अंग्रेजों के फूट डालने के अनवरत प्रयासों के कारण वह हो गया जिसकी कल्पना किसी राष्ट्रीय नेता, स्वयं पाकिस्तान के निर्माता मुहम्मद अली जिन्ना को भी नहीं थी। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में मुस्लिम लीग तो अंग्रेजों की प्रेरणा से ही बनी थी। ज्ञातव्य है कि प्रारंभिक वर्षों में मुहम्मद अली जिन्ना मुस्लिम लीग की बजाय कांग्रेस के प्रतिष्ठित नेता थे और मजहब से राजनीति को जोड़ने के बिल्कुल विरोधी थे। अंग्रेज सदा इस प्रयास में भी रहे कि हिंदू महासभा जैसी संस्थाएँ राष्ट्रीय कांग्रेस की जगह पर हिंदुओं की अलग प्रतिनिधि संस्था के रूप में विकसित हों ताकि साझी भारतीय राष्ट्रीयता की कल्पना समाप्त हो जाए। ऐसे ही प्रयासों का परिणाम था कि हिंदुओं के एक हिस्से में एक खास तरह की राष्ट्रीयता का भाव जगा जो अंग्रेजी शासन के विरोध की बजाय मुस्लिम-विरोध पर आधारित था। राष्ट्रीय, स्वयं सेवक संघ जैसी जमातें इसी प्रक्रिया में जन्मीं और इसी कारण मुस्लिम लीग के 'मुस्लिम कौम' के समांतर 'हिंदू राष्ट्र' की बात होने लगी।

लेकिन आधुनिक दुनिया की हकीकत ऐसी है और लोकतंत्र की मूलभूत मान्यताओं से धर्म-आधारित राष्ट्र की परिकल्पना इतनी विपरीत कि स्वयं कायदे आजम जिन्ना को पाकिस्तान की संविधान सभा के अपने उद्घाटन भाषण में यह आह्वान करना पड़ा कि अब जब पाकिस्तान बन गया है, यह एक ऐसा राष्ट्र होगा जिसमें नागरिकों के बीच धर्म के आधार पर कोई भेदभाव नहीं होगा। अगर हम उन इस्लामी मुल्कों पर नजर डालें जहाँ मजहब को राजनीति और कानून का आधार बनाया गया है तो हम पाएँगे कि कहीं भी सहिष्णुता और मानवाधिकारों पर आधारित

लोकतंत्र नहीं है। जिन्ना निश्चित रूप से इस अंतर्विरोध को समझते थे। लेकिन चूंकि पाकिस्तान की स्थापना एक धार्मिक उन्माद के आधार पर हुई थी, ये बातें पूरी तरह नजरअंदाज कर दी गईं। आजादी के बाद पाकिस्तान भी अनेक तरह की समस्याओं से घिरा था। इन समस्याओं का निराकरण कर पाने में असमर्थ पाकिस्तान के शासकों के लिए भारत का हौआ खड़ा कर लोगों की नाराजगी को भारत-विरोध में मोड़ना जरूरी था। विशेष तौर से लोगों के मन में यह बात बैठाने की कोशिश होती रही कि भारत एक हिंदू राष्ट्र है जो पड़ोस के मुस्लिम राष्ट्र पाकिस्तान को निगलने के लिए तैयार बैठा है। इसलिए पाकिस्तान का सारा प्रचार भारत के मुसलमानों में भय और यह धारणा पैदा करने पर केंद्रित था कि भारत में मुसलमान तरह-तरह से प्रताड़ित और सभी अधिकारों से वंचित हैं। भारत में संघ परिवार द्वारा की गई सभी मुस्लिम विरोधी हरकतों से पाकिस्तान को अपने यहाँ के लोगों की भारत विरोधी भावना को दृढ़ करने का मौका मिलता था।

कश्मीर का मामला इस दृष्टि से हमारी साझी संस्कृति और राष्ट्रीयता की कसौटी बन गया। मुस्लिम बहुल कश्मीर भारत के साथ रहेगा कि पाकिस्तान के साथ जाएगा यह इस बात पर निर्भर था कि स्वयं कश्मीर में धर्म और राज्य का क्या संबंध है और भारत किस हद तक धर्मनिरपेक्षता की कसौटी पर खरा उतरता है। राष्ट्रीय आंदोलन के काल में कांग्रेस का नेशनल कॉन्फ्रेंस के साथ गहरा संबंध था और कश्मीर में राजशाही के खिलाफ जनता के आंदोलन से इसकी सदा हमदर्दी रही। अतः आजादी के तत्काल बाद कश्मीर के भारत के साथ विलय के फैसले को शेख अब्दुल्ला का पूरा समर्थन मिला। लेकिन बाद के वर्षों में भारत में हिंदुत्ववादियों द्वारा देश के भगवाकरण के प्रयास और स्वयं पंडित नेहरू के कश्मीर की राजनीति पर केंद्र के शिकंजे को मजबूत करने के प्रयासों से मिलन की यह स्वाभाविक प्रक्रिया बाधित हो गई। बाद में शेख अब्दुल्ला को नजरबंद कर दिया गया और वर्षों तक कश्मीर में लोकतांत्रिक प्रक्रिया समाप्त हो गई। इससे वहाँ की राजनीति पर भी धीरे-धीरे सांप्रदायिक विभाजन की छाया पड़ने लगी और कश्मीर की स्वायत्तता का सवाल इस्लामी कट्टरपंथ के जाल में उलझ गया। इसी से पाकिस्तान को अपना प्रभाव फैलाने का मौका मिला।

इस दृष्टि से विचार करने पर साफ दिखाई देता है कि हिंदुत्ववादी अपने पाकिस्तान-विरोध के तमाम नारों के बावजूद भारत की राजनीति में पाकिस्तान की एजेंसी का काम कर रहे थे और पाकिस्तान द्वारा प्रचारित 'हिंदू भारत' के स्टीरियो टाइप को मूलबद्ध

करने में सहायक हो रहे थे। इस देश में होने वाली सभी मुस्लिम विरोधी हरकतें पाकिस्तान के मीडिया को यह स्थापित करने में सहायता देती हैं कि भारत के अल्पसंख्यक असुरक्षित हैं और भारत की धर्मनिरपेक्षता एक मुखौटा भर है। अपनी मनगढ़ंत स्थापना को हकीकत सिद्ध करने के लिए पाकिस्तान कोई भी मौका हाथ से जाने देना नहीं चाहता और भारत के मुसलमानों में भारत के प्रति बेगानेपन के भाव को सदा बढ़ाने में लगा रहता है। इस काम में भारत में उसके असली सहायक संघ परिवार के लोग सिद्ध होते हैं। कश्मीर में तो इस राजनीति को सफलताा मिल ही गई है जिसके फलस्वरूप मुसलमानों के साथ भाईचारे में सदियों से रहने वाले कश्मीरी पंडित कश्मीर छोड़ कर बाहर आ गए हैं और स्वयं वहाँ के मुसलमानों में बेगानेपन का भाव है।

हिंदुत्ववादी अब पूरे भारत में इस तरह का अलगाव पैदा करने की कोशिश कर रहे हैं। वे यह भूल जाते हैं कि भारत का राष्ट्रबोध शक, हूण, द्रविड़, आर्य, पठान, हिंदू, मुसलमान, बौद्ध, ईसाई एवं अनेक आदिवासी मूल और विश्वासों की एकीकृत साझा विरासत है और इसके विविध तत्त्वों को अलग करने एवं निष्कासित करने के प्रयास में भारतीय राष्ट्रीयता का लोप हो जाएगा। दरअसल संघ परिवार भारत के राष्ट्रबोध को खोखला कर इसे हर तरह के आर्थिक और सांस्कृतिक आक्रमणों के लिए खुला कर रहा है। यह भी विडंबना ही है कि एक तरफ तो आतंकवादी हरकतों को रोकने के लिए आतंकवाद निरोधक कानून लागू करने पर सरकार की सारी शक्ति लगती है जबकि दूसरी तरफ ऐसे लोग जो देश के नागरिकों के विशाल हिस्से को लगातार आतंकित करने में लगे हैं, सत्ता की शीर्षस्थ संस्थाओं पर अपनी पकड़ बनाए हुए हैं और देश के शासकों से सम्मानित हो रहे हैं।

भारतीय गणतंत्र का भीतरी संकट

गुजरात का राज्य प्रायोजित कत्लेआम, एवं पुलिस धाँधली के ख़िलाफ उत्तर प्रदेश और फिर पटना (बिहार) के आमलोगों के आक्रोश का जो ज्वालामुखी फूटा है वह संकेत है कि भारतीय गणतंत्र गंभीर रूप से बीमार है। अंदर से जर्जर हो रही व्यवस्था की कमजोरी को युद्ध आयुधों और सैनिकों की परेड से ढका नहीं जा सकता। लोकतंत्र का कोई अर्थ नहीं रह जाता अगर जनमानस या राजनेताओं में उन मर्यादाओं का लोप हो जाए जो लोकतंत्र और गणतंत्र की आत्मा होती हैं। शासकों और प्रशासकों की अक्षमता और राजनेताओं द्वारा राजनीतिक लाभ के लिए विविध समूहों को एक दूसरे के खिलाफ लड़ाने की रणनीति ने आम लोगों में भी संवेदनहीनता को बढ़ावा दिया है। पुलिस की निष्क्रियता और भ्रष्ट आचरण के चलते अब लोग अपराधियों को दंडित करने के लिए पुलिस के हवाले करने की बजाय स्वयं दंडित करने लगे हैं। उन्हें भरोसा नहीं होता कि पुलिस अपराधियों को न्यायिक प्रक्रिया से दंडित कराने में कोई दिलचस्पी लेगी। इस तरह ऐसी अनेक वारदातें होती हैं जिनमें संदेह पर भीड़ निर्दोष लोगों को पीट-पीट कर मार डालती है। इसी तर्ज पर पुलिसवाले भी फर्जी मुठभेड़ों में वैसे लोगों को, जिनसे उनका किसी कारण बैर होता है या जिन पर संदेह होता है, मार डालते हैं। आम लोग भी लंबी और कभी-कभी अविश्वसनीय लगने वाली न्यायिक प्रक्रिया की बजाय ऐसे त्वरित दंड को समर्थन देने लगते हैं। कुछ वर्ष पहले बिहार के भागलपुर में कुछ अपराधियों को पुलिस ने हिरासत में ले अंधा कर दिया था। लोगों को अपराधियों पर इतना गुस्सा था कि जब इन पुलिसकर्मियों पर ऐसे गैर-कानूनी काम के लिए कार्रवाई हुई तो आम लोग इन पुलिसकर्मियों के समर्थन में सड़कों पर आ गए। लोग भूल गए कि कानूनी बंधनों से मुक्त कर वे पुलिस को अपराधी में तब्दील कर रहे हैं।

गुजरात में जो कुछ हुआ दरअसल उसी मानसिकता का एक भयावह रूप था। गोधरा की घटना एक जघन्य अपराध थी जिसके लिए अपराधियों का पता लगा दंडित करना प्रशासन का काम था। इसकी बजाय वहाँ के शासक दल और प्रशासन ने स्वयं जनभावना को उभार कर भीषण दंगा कराया जिसमें हजार से अधिक

निर्दोष लोग मारे गए। गुजरात के शासक दल ने शर्मसार होने की बजाय इसी पृष्ठभूमि में गुजरात गौरवयात्रा का आयोजन किया। लोगों के उन्माद को हवा देने का पूरा लाभ गुजरात की भाजपा को मिला और चुनाव में दो तिहाई बहुमत ले वह सत्ता में आई। यह जरूर हुआ कि गौरवशाली और शर्मनाक शब्दों के अर्थ बदल गए। भाजपा के नेताओं को इस बात की कतई परवाह नहीं थी कि इस तरह की नीति से वे गणतंत्र की बुनियाद को खोखला कर रहे हैं, जिससे देश अंततः आपसी कलह और गृहयुद्ध में बिखर जाएगा।

देश का प्रधानमंत्री अपने शासनकाल में देश का प्रवक्ता होता है लेकिन गुजरात के दंगों पर और फिर धर्मनिरपेक्षता के प्रश्न पर जिस तरह हर दिन उनके बयान परस्पर विरोधी होते रहे हैं लोगों के लिए यह तय करना मुश्किल है कि प्रधानमंत्री का आशय क्या है? धर्मनिरपेक्षता को बराबर छद्म धर्मनिरपेक्षता बतलाकर वे यह सिद्ध करने की कोशिश कर रहे हैं कि 'हिंदुत्व' यानि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का धुर संप्रदायवाद ही धर्मनिरपेक्षता है। जब प्रधानमंत्री घुमाफिरा कर गुजरात की उपलब्धि को अगले निर्वाचनों में दुहराने का आह्वान करते हैं उसका क्या अर्थ लगाया जा सकता है? इसका सीधा अर्थ तो एक ही निकलता है दंगों से उपजे उन्माद और सांप्रदायिक विभाजन के बल वोट बटोरने की रणनीति। राजनीति में शब्दों के अर्थ की निश्चितता लोकतंत्र की बुनियाद होती है। इसके स्खलन से लोकतंत्र का आधार खिसकने लगता है। जॉर्ज ऑरवेल ने अंग्रेजी भाषा और राजनीति पर लिखे गए एक निबंध में यह दिखलाने की कोशिश की थी कि जब शब्द सीमा रेखाओं पर गिरने वाले बर्फ के फाहे की तरह धीरे-धीरे अर्थों की स्पष्टता को धूमिल करने लगते हैं तो अधिनायकवाद के लिए जमीन तैयार होने लगती है। इसी बात को उसने अपने प्रसिद्ध उपन्यास उन्नीस सौ चौरासी में 'डबल टॉक' (दुहरी शब्दावली) के रूप में अभिव्यक्त किया था जिसमें 'युद्ध और शांति' जैसे शब्दों के अर्थ बिल्कुल उलट गए थे। ऐसी स्थिति में शासित लोग शासकों को उनकी घोषणाओं से बाँध नहीं पाते जो निर्वाचकों और निर्वाचितों के बीच संबंध का आधार होना चाहिए यानी कथनी और करनी के भेद को दिखलाने वाली कसौटी का ही लोप हो जाता है। यह विडंबनापूर्ण स्थिति सबसे ज्यादा हमारे संविधान की घोषित बुनियाद और सत्ता की नीतियों में साफ तौर से उभरकर सामने आने लगी है। संविधान कहता है कि भारत एक धर्मनिरपेक्ष समाजवादी जनतांत्रिक गणतंत्र है। संविधान की शपथ लेकर सत्ता में आए लोग जिस तरह धर्मनिरपेक्षता का मखौल उड़ा रहे हैं वह तो कम से कम लोगों में विवाद का विषय बना हुआ है। लेकिन इस संविधान की बुनियाद के घोषित समाजवादी चरित्र के ठीक उल्टी जो नीति चलाई जा रही है इस पर तो सत्ता पक्ष या विपक्ष से कोई सवाल ही नहीं खड़ा किया जा रहा है। यह जानने के लिए राजनीति का पंडित होना जरूरी नहीं कि समाजवादी चरित्र का मतलब होता

है आर्थिक मामलों में सार्वजनिक क्षेत्र की प्रधानता और इसका उत्तरोत्तर विस्तार। आज देश की पूरी अर्थनीति सार्वजनिक क्षेत्र को निजीकरण की है और दशकों के प्रयास से खड़े किए गए सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों के त्वरित विनिवेश को एक बड़ी उपलब्धि के रूप में गिनाया जा रहा है। इसकी तफसील को लेकर जब-तब विवाद होते रहे हैं लेकिन कभी किसी प्रमुख राजनीतिक दल ने इसकी संवैधानिक वैधता या सामाजिक औचित्य पर सवाल खड़ा नहीं किया है। संविधान के आधार को बिना बदले ऐसा करने का सीधा अर्थ है कि जिस संविधान की शपथ ले शासन चलाया जा रहा है उस संविधान की मूल भावना का शासकों के लिए कोई अर्थ नहीं रह गया है। शब्दों के अर्थ के जैसे छीजन की बात ऑरवेल ने की थी उसका इससे सटीक उदाहरण और क्या हो सकता है। यह साफ संकेत है कि हमारा लोकतंत्र गहरे संकट में है। संविधान की बुनियाद को खोखला करने के इस प्रयत्न के सामने सैकड़ों आतंकवादी समूहों के प्रयास नगण्य हैं जिनके खिलाफ अभियान चलाया जा रहा है।

संविधान या अन्य आस्थाओं से मुक्त राजनेताओं का स्वाभाविक रुझान राजनीति का उपयोग वैयक्तिक और पारिवारिक आकांक्षाओं की पूर्ति करने की तरफ होता है। इससे राजनीति में खानदानशाही की तरफ झुकाव लगातार बढ़ रहा है। कांग्रेस में इंदिरा गाँधी के समय से यह रुझान स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगा था। कुछ कांग्रेसी नेता तो खुल्लमखुल्ला यह वकालत करने लगे थे कि परिवार आधारित हो जाने से व्यवस्था में स्थायित्व बढ़ सकता है। राजीव गाँधी की हत्या के बाद केंद्र सरकार में तत्काल खानदानी शासन का अंत हो गया। लेकिन सत्ता में परिवारवाद का अंत भले ही हो गया हो दलों में परिवारवाद लगातार बढ़ रहा है। कांग्रेस में सोनिया गाँधी की नेता के रूप में स्थापना और उनके पुत्र-पुत्री को राजनीति में घसीटने के प्रयास यही बतलाते हैं। लेकिन यह मर्ज कांग्रेस पार्टी तक ही सीमित नहीं है। दूसरी पार्टियाँ भी इसी परंपरा पर चलने की कोशिश कर रही हैं। फिलहाल भाजपा में खानदानशानी थोड़ा कम है। एक बड़ा कारण यह है कि उसके आदर्श चाहे कितने भयावह क्यों न हों राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ एक प्रतिबद्ध जमात है जो अपने विविध माध्यमों से भाजपा नेतृत्व पर अपना शिकंजा कसे रहता है। दूसरा अटल बिहारी वाजपेयी का कोई अपना परिवार उस अर्थ में नहीं है जिस अर्थ में लोग मानते हैं। लेकिन राजग के घटकों और विपक्ष के दूसरे दलों में खानदानशाही काफी हद तक स्थापित हो चुकी है। अजित सिंह राजनीति में अपने पिता के स्थान को लेने की कोशिश कर रहे हैं और उनकी पार्टी इसी परंपरा की अनुगामी मात्र है। चंद्रबाबू नायडू एक पारिवारिक युद्ध के बाद एन. टी. रामाराव की गद्दी के दावेदार बने हुए हैं। उड़ीसा में बीजू पटनायक का खानदानी वर्चस्व नवीन पटनायक के रूप में कायम है। हरियाणा में देवीलाल के पुत्र चौटाला उनकी विरासत ढो रहे हैं। समता और

यूनाइटेड जनता दल में नेतृत्व का संघर्ष चालू है जिससे अभी कुछ भी निश्चित होना बाकी है। बिहार में लालू प्रसाद यादव का परिवार ही राजद में सर्वेसर्वा है। वैसे ही उत्तर प्रदेश में समाजवादी पार्टी एक व्यक्ति मुलायम सिंह यादव की धरोहर है और उनके पुत्र को एक-एक सीढ़ी आगे बढ़ाया जा रहा है। यह सहज ही देखा जा सकता है कि गणतंत्र के तहत राज्यों में राजनीति धीरे-धीरे राजतंत्र के साँचे में ढल रही है—ऐसा राजतंत्र जिसे समय-समय पर चुनावों से स्वीकृति प्राप्त करनी होती है।

दलों में बढ़ रहे राजतंत्र (परिवारवाद) का असर यह हुआ है कि इनके भीतर दरबारीपन का माहौल है और कार्यक्रम तथा नीति संबंधी निर्णयों की कोई वस्तुपरक कसौटी नहीं होती, बल्कि सर्वोच्च नेता की मर्जी ही निर्णायक होती है। इस दरबारीपन के माहौल से प्रशासनिक प्रक्रिया भी प्रभावित होती है। आधुनिक प्रशासनिक व्यवस्था या नौकरशाही का आधार भी लीगल-रैशनल (तर्क नियम आधारित) नहीं रह पाता। इसमें लगातार नेता या उनके हिमायतियों द्वारा हस्तक्षेप होते रहते हैं। भाजपा के नेताओं के परिवार का हस्तक्षेप प्रशासन में अगर कुछ कम है तो संघ परिवार का हस्तक्षेप इतना अधिक है कि यह लगभग एक समानांतर व्यवस्था बन गई है। यह स्थिति कमोबेश राज्य सरकारों और केंद्र सरकार दोनों के प्रशासनिक ढाँचे में फैली है। इसका सीधा असर यह हुआ है कि प्रशासनिक और पुलिस व्यवस्था दिनोंदिन अक्षम होती जा रही है। कोई भी आधुनिक प्रशासन नियम-कानून के निर्वैयक्तिक पालन से ही चल सकता है। यह इसके ढाँचे का अंतर्निहित गुण है। पुलिस और प्रशासन के जिस पक्षपातपूर्ण और भ्रष्ट आचरण की चर्चा प्रारंभ में की गई है उसका उत्स यही है। आधुनिक गणतंत्र जो किसी राजा या सर्वशक्तिमान तानाशाह की हैसियत को नकारता है अपना चरित्र तभी बरकरार रख सकता है जब शासन और प्रशासन में सभी स्तर पर निर्वैयक्तिकता और निष्पक्ष बना रहे। जो स्थितियाँ बन गई हैं उसमें गणतंत्र के अस्तित्व पर गंभीर खतरा उपस्थित हो गया है। यह कोई बाहरी चुनौती नहीं है। इससे मुकाबला सभी नागरिकों और राजनेताओं को अपने भीतर अपने व्यवहारों को अनुशासित करके करना होगा।

एक वक्तव्य के मंतव्य

गृहमंत्री लालकृष्ण आडवाणी का लोकसभा में दिया गया यह वक्तव्य वर्ष के सबसे महत्त्वपूर्ण वक्तव्यों में एक है कि भारत कभी भी हिंदू राष्ट्र नहीं बन सकता। इस बयान का निहितार्थ देश की राजनीति को पटरी पर लाने में अहम भूमिका निभा सकता है। इसके महत्त्व का कुछ अंदाज तो इसी से लगाया जा सकता है कि देश भर के हिंदुत्ववादी खेमे में इस बयान से हड़कंप-सा मच गया। जहाँ राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और विश्व हिंदू परिषद के कुछ नेताओं द्वारा यह कहा गया कि आडवाणी हिंदुत्व का अर्थ नहीं समझते, वहीं शिवसेना प्रमुख बाल ठाकरे ने इसे देश की पीठ में छुरा घोंपना बताया। दूसरी ओर भाजपा के कुछ नेता यह साबित करने की दिमागी कसरत में लगे हैं कि आडवाणी ने जो कुछ कहा है उसका कोई विरोध हिंदुत्व की विचारधारा से नहीं है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक केसी सुदर्शन ने तो यहाँ तक घोषित कर दिया कि भारत एक हिंदू राष्ट्र (आज भी) है। इतना ही नहीं, उन्होंने इसे एक शाश्वत सत्य तक कहा। आडवाणी भारतीय राजनीति में अब तक हिंदुत्ववादियों के प्रतीक पुरुष माने जाते रहे हैं। जब ऐसे लोगों में, जो हिंदू राष्ट्र के नारे के नीचे पूरी जिंदगी शारीरिक और दिमागी कवायद करते रहे हैं, हिंदू राष्ट्र का मतलब क्या है, इस पर इतना गहरा मतभेद है तो यह निष्कर्ष निकालना गलत नहीं होगा कि इस शब्द का कोई निश्चित अर्थ है ही नहीं और अपने संगठन के सांप्रदायिक तत्त्वों की ताकत को जोड़ने के लिए इसका इस्तेमाल वैसे ही किया जाता रहा है जैसे किसी भारी वस्तु को खींचने या ढकेलने के समय मजदूर 'जोड़ लगा के हैया' जैसे उद्घोष करते हैं।

इस बयान के संदर्भ में एक बार फिर संघ परिवार वालों की ओर से यह तर्क दुहराया जाने लगा है कि हिंदू शब्द का प्रयोग तो सिंधु नदी के देश में रहने वाले तमाम लोगों के लिए किया गया था और जब वे हिंदू शब्द का प्रयोग करते हैं तो इसी अर्थ में। इसी अर्थ में भारत एक हिंदू राष्ट्र है। हकीकत पर विचार करने से इस कथन में कोई दम नहीं दिखाई देता है। शब्दों के अर्थ आम सहमति से निर्धारित होते हैं और इनका मुख्य काम होता है संबद्ध समूह के भीतर संप्रेषण संभव बनाना। अर्थ के बारे में जब तक ऐसी आम सहमति नहीं बनती, शब्द संवाद संभव बनाने

के अपने मूल उद्देश्य से भटक जाते हैं। यह ठीक है कि प्राचीन काल में भारत के उत्तर-पश्चिम में रहने वाले लोगों ने कभी-कभी यहाँ के निवासियों के बारे में हिंदू (सिंधु का फारसी में बदला हुआ उच्चारण) शब्द का प्रयोग किया है। लेकिन स्वयं भारतीयों ने अपने लिए इस शब्द का प्रयोग नहीं किया। उन्होंने भारत, आर्यावर्त या जंबूद्वीप जैसे शब्दों का प्रयोग जरूर किया। न तो प्राचीन काल में देशी या विदेशी किसी ने यहाँ के धर्म को ही हिंदू धर्म कहा। यहाँ के धार्मिक मतों में शैव, शाक्त, वैष्णव, भागवत, बौद्ध, जैन जैसे धर्मों का उल्लेख जरूर हुआ है लेकिन हिंदू धर्म का नहीं।

इसके अलावा विभिन्न जनजातीय समूहों के अपने-अपने धर्म थे। एक मोटा-मोटी विभाजन आस्तिक और नास्तिक के बीच जरूर था। लेकिन आस्तिकों में भी पदार्थवादी वैशेषिकों से लेकर, जो संसार की उत्पत्ति के लिए ईश्वर की भूमिका या अस्तित्व को नकारते थे, वेदांतवादी तक शामिल थे जो मात्र एक परमात्मा के अस्तित्व को कबूल करते थे। नास्तिक वे ही माने गए जो वेदों को अमान्य करते थे। इस तरह यहाँ अपने विश्वासों और पूजन विधि की भिन्नता वाले अनेक पंथ थे। इस्लाम को मानने वाले लोगों ने तो सभी गैर-इस्लामी लोगों को काफिर कहा। हिंदू शब्द भारत के कुछ धार्मिक समूहों के लिए कब से प्रयोग में आने लगा कहना मुश्किल है लेकिन इस शब्द से कभी भारत के पारंपरिक धार्मिक विश्वासों का सही बोध नहीं हुआ। दक्षिण भारत के गैर-ब्राह्मणों को, जो अपने को द्रविड़ कहते हैं, हिंदू कहे जाने पर सख्त एतराज होगा। सच तो यह है कि जब संघ परिवार के लोग हिंदू शब्द का प्रयोग करते हैं तो उनका अर्थ होता है ब्राह्मणवादी परंपराओं की स्वीकृति। अगर ऐसा नहीं है तो उन्हें मंदिर-मस्जिद जैसे विवादों में पड़ने की जरूरत क्यों हुई? जब चुनावी राजनीति के चलते वे भले ही दलितों और जनजातीय समूहों को समेटने की कोशिश करते हों लेकिन प्रारंभ से संघ परिवार की परंपरा आर्यों और संस्कृत की श्रेष्ठता को आधार बनाए रखने की रही है। अगर ऐसा नहीं है तो उनका ऐसे विवादों में पड़ने का क्या अर्थ है कि आर्य भारत के मूल निवासी हैं या वे बाहर से आए। अब इतिहास लेखन में भी इस विवादास्पद बात को लादने की कोशिश हो रही है कि आर्य इसी देश के मूल निवासी थे। यह सही भी हो तो इससे इस हकीकत पर कोई असर नहीं पड़ता कि इस देश की आबादी का बहुत बड़ा हिस्सा वैसे लोगों का है जो 'गैर-आर्य' हैं।

स्वयं आर्य शब्द का अर्थ भी विवादित ही है। दरअसल मूल निवासी वाली बात सापेक्ष ही हो सकती है क्योंकि यह अब लगभग निर्विवाद रूप से माना जाने लगा है कि संसार के सभी मनुष्य किसी एक आदि मानव समूह के वंशज हैं और फैलते-फैलते सारे संसार में बस गए हैं। अधिकतर नृशास्त्री यह भी मानने लगे हैं

कि इनका आदि स्थान अफ्रीका था—भारत का नाम तो इस चर्चा में आया ही नहीं। इस तरह की बहस में पड़ हिंदुत्ववादी अनजाने ही अपने ब्राह्मणवादी पूर्वग्रहों को उजागर कर देते हैं। भारत की एकता को स्वीकार करने का अर्थ है इस तथ्य को स्वीकारना कि इस देश में हजारों वर्ष से अनेक मानव समूहों और मूलों के लोग आकर अपनी भाषा, भूषा और विश्वासों के साथ बसते और निवास करते रहे हैं। वे सभी इस देश की नागरिकता के समान अधिकारी हैं। संघ परिवार के लोग चाहे जो कहें हिंदुत्व शब्द आज इस एकता को खंडित कर देश को हिंदू और गैर-हिंदू में विभाजित करता है। इसी अर्थ में एक समेकित भारत राष्ट्र हिंदू राष्ट्र नहीं हो सकता।

अब जब लालकृष्ण आडवाणी इस सच्चाई को व्यक्त कर रहे हैं तो मानना होगा कि वे अपने राजकीय और प्रशासनिक अनुभवों के आधार पर ही इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। भारत की विविधता में किसी एक धार्मिक समूह को केंद्र में रखकर व्यवस्था चला पाना असंभव है, यह बात भारत के गृहमंत्री के लिए आत्मसात करना स्वाभाविक था। उनके सामने सिर्फ कश्मीर का अनुभव नहीं है जहाँ क्षेत्रीय स्वायत्तता का मामला इस्लामी चरमपंथ, कश्मीरी पंडितों के विस्थापन और लद्दाख के बौद्धों की अलग पहचान की माँग के साथ बुरी तरह उलझ गया है। उनके सामने उत्तर-पूर्वी सीमा के अलगाववादी आंदोलनों का नक्शा भी है—नागालैंड, मिजोरम और मणिपुर में मूल के साथ ईसाई धर्म और मेत्ताई धर्म का उलझना, बोडो लोगों की अलग राज्य की माँग और अब उत्तर बंगाल में गोरखालैंड और कामतापुरी राज्य की माँग—ये सब हिंदुत्व की अवधारणा में कहीं फिट होते नहीं दिखाई देते। किसी भी गंभीर व्यक्ति के लिए इन अनुभवों से कुछ नतीजा निकालना लाजिमी है। और भारत के गृहमंत्री ने स्वाभाविक नतीजा निकाला है कि इस देश की एकता के लिए यहाँ के लोगों की विविधता और उनके विश्वासों और जीवन पद्धतियों को आदरपूर्वक स्वीकार करना ही होगा। इसी से एकता और स्थायी शांति स्थापित की जा सकती है।

जिस नतीजे पर भारत के गृहमंत्री आज पहुँचे हैं उस पर इस देश पर शासन करने वाले बड़े सम्राट काफी पहले पहुँच चुके थे। बाबर ने अपनी वसीयत में अपने पुत्र हुमायूँ को यह नसीहत दी थी कि चूंकि इस देश में अलग-अलग मजहब के लोग रहते हैं इसलिए उनकी भावना का आदर कर इनके धर्मस्थलों को नुकसान नहीं पहुँचाना। उसने यह सलाह भी दी थी कि चूंकि इस देश के लोग गाय की इज्जत करते हैं वह गाय का मांस न खाए। मुगलों के महान शासक अकबर ने तो देश

के लोगों को एक भावनात्मक सूत्र में जोड़ने के लिए विविध धर्मों की मूल शिक्षा को समेटते हुए एक नया धर्म 'दीने इलाही' चलाने का प्रयास भी किया था। राज्य की एकता और शांति के लिए राज्य को धार्मिक विवादों से ऊपर रखना इतना अपरिहार्य दिखा कि कट्टर माने जाने वाले मुगल शासक औरंगजेब ने भी अपने शासन में इस सिद्धांत को लेकर चलने की कोशिश की। निजी मामलों में उसकी धार्मिक आस्था कितनी ही कट्टर क्यों न रही हो, जहाँ राजकाज का मामला आता था वह अपनी सीमा को समझता था। जिस बादशाह का प्रधान सेनापति जसवंत सिंह और बड़ी संख्या में दूसरे सेनापति राजपूत हों वह हिंदू धर्म का विरोधी कैसे हो सकता था। इसलिए अपनी धार्मिक मान्यताओं के बावजूद उसने अपने सरकारी कोष से अनेक हिंदू मंदिरों और बौद्ध संस्थाओं के लिए नियमित अनुदान की व्यवस्था की थी। इसके सबूत में दस्तावेज उपलब्ध हैं। लेकिन इन औपचारिक प्रावधानों के बावजूद उसकी भेदभावपूर्ण दृष्टि और अपने हाथ में सत्ता केंद्रित करने की तानाशाही प्रवृत्ति का परिणाम हुआ कि उसके जीवन काल में ही अनेक विद्रोह शुरू हुए जिससे उसके मरने पर मुगल शासन सिकुड़ता हुआ केवल दिल्ली के आसपास के इलाकों तक में रह गया। यह वर्तमान भारत के शासकों के लिए भी एक सबक छोड़ जाता है।

लेकिन आडवाणी की स्थिति दुविधापूर्ण है। एक तरफ राष्ट्रीय एकता और प्रशासनिक दक्षता बनाए रखने के लिए 'हिंदू राष्ट्र' वाले पूर्वग्रह से मुक्त होना जरूरी है, जिस सोच की अभिव्यक्ति उनके हाल के बयान में होती है। दूसरी ओर सत्ता की राजनीति का विपरीत दबाव उनके दल पर है। भाजपा की शक्ति का आधार राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ है जिसने विश्व हिंदू परिषद, बजरंग दल जैसे हिंदुत्व आधारित कई कट्टरपंथी सांप्रदायिक संगठन खड़े कर लिए हैं। गुजरात के मुख्यमंत्री नरेंद्र मोदी तो पूरी तरह इस अंध सांप्रदायिकता के प्रवक्ता हैं। ऐसे लोगों को गुजरात में हुए नरसंहार गौरव की चीज लगते हैं। अटल बिहारी वाजपेयी भी इन्हीं दो दबावों के बीच झूल रहे हैं। गुजरात और गोवा में गुजरात के दंगों पर दिए गए उनके परस्पर विरोधी बयान इसी अंतर्विरोध को जाहिर करते थे। इन नेताओं के सामने राष्ट्रीय एकता और अपनी निजी सत्ता के बीच चुनाव करने की चुनौती आ गई है। अगर वे राष्ट्रीय एकता के पक्ष में काम करने का संकल्प करते हैं तो उन्हें कई महत्त्वपूर्ण कदम उठाने होंगे। सबसे पहले तो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा चलाई जाने वाली शाखाओं और प्रशिक्षण संस्थाओं को बंद करना होगा या उसके द्वारा प्रचारित उन सारे विचारों पर रोक लगानी होगी जो स्पष्ट रूप से राष्ट्र विरोधी हैं।

एक तरफ हमारा संविधान भारत को धर्मनिरपेक्ष घोषित करता है। दूसरी ओर हर दिन सुबह या शाम पाँच वर्ष से लेकर किशोरावस्था तक के बच्चों को देशभर में

फैली हजारों शाखाओं में भगवा झंडे को हिंदू राष्ट्र के ध्वज के रूप में सलाम करने की सीख दी जाती है और इन अबोध बच्चों को यह बताया जाता है कि सिर्फ हिंदू ही इस राष्ट्र के असली नागरिक हैं। दूसरे धर्म वालों के खिलाफ नफरत भरी जाती है। इकबाल के गीत में कहा गया है कि 'हम बुलबुलें हैं इसकी यह गुलिस्तां हमारा'। इन शाखाओं में प्रचलित इसी तर्ज के एक गाने में कहा गया है, 'उन बुलबुलों को कह दो कहीं और चमन ढूँढें'। यह स्पष्ट रूप से गैर हिंदुओं को देश छोड़ने को कहना है। अगर देश के करोड़ों बच्चों के मन में इस तरह का जहर भर दिया गया तो हमारा राष्ट्र क्या बनेगा? आडवाणी को राष्ट्र के संबंध में दिए गए वक्तव्य से आगे बढ़ कर इन समस्याओं से भी निपटना होगा।

यह हिटलर का रास्ता है

जो लोग हाल तक भाजपा नेताओं की इस उक्ति के अभ्यस्त हो चुके थे कि राजग से अलग भाजपा का कोई एजेंडा नहीं है उन्हें अब आँख मल कर इस हकीक़त को समझने के लिए अपने को तैयार करना होगा कि भाजपा अपनी जुनूनी जड़ों पर फिर वापस आ गई है। अब अयोध्या में मंदिर निर्माण, कश्मीर के मामले में संविधान की धारा 370 को हटाना और समान नागरिक संहिता जैसे सवाल इसके मूल मंतव्य बन गए हैं। लालकृष्ण आडवाणी, जो कुछ समय पहले यह कह रहे थे कि भारत कभी हिंदू राष्ट्र नहीं बन सकता, अब कह रहे हैं कि भाजपा का उद्देश्य तो हिंदुत्व की कार्यसूची लागू करना ही है, राजग की नीतियाँ तो महज कामचलाऊ रही हैं। दो जीभ से बात करने की इससे अच्छी मिसाल कहाँ मिलेगी जो अधिनायकवादी राजनीति का आधार होता है। भाजपा की नीतियों या घोषित नीतियों में आया यह बदलाव अकारण नहीं है। देश जिस कठिन दौर से गुजरने जा रहा है उसका मुकाबला करने के लिए भाजपा की नयी रणनीति की पृष्ठभूमि को समझना जरूरी है।

जिस वैश्विक अर्थव्यवस्था से भाजपा भारत को पूरी प्रतिबद्धता से जोड़ रही है उसकी स्थिति नाजुक होती जा रही है। दुनिया न सिर्फ मंदी के दौर से गुजर रही है बल्कि वैश्वीकरण और उदारीकरण के जो नतीजे सामने आए हैं वे हताश करने वाले हैं। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के ताजा आंकड़ों के अनुसार फिलहाल दुनिया में अट्ठारह करोड़ श्रमिक बेरोजगार हो गए हैं और तिहत्तर करोड़ कामकाजी और बेरोजगार लोग गरीबी-रेखा के नीचे रह रहे हैं। संगठन के अनुसार पिछले पचास वर्ष में कभी भी दुनिया की स्थिति इतनी खराब नहीं थी। यह ध्यान में रखने की बात है कि अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के आंकड़े जो स्थिति बतलाते हैं वे हकीकत से कुछ अच्छे रहते हैं क्योंकि वे उन समाजों पर निर्भर करते हैं। जो अधिक व्यवस्थित हैं और जहाँ से कुछ विश्वसनीय आंकड़े उपलब्ध हो जाते हैं जो विशाल क्षेत्र 'सभ्यता' की रोशनी से वंचित एक खास धरातल से नीचे अंधकार में रहने को अभिशप्त है उसके संबंध में किसी विश्वसनीय आंकड़े की बात फिलहाल नहीं सोची जा सकती। भारत का काफी हिस्सा इसी कोटि में आता है।

यह जानकारी भी दिलचस्प है कि श्रमिक संगठन के अनुसार बेरोजगारी और बदहाली सबसे अधिक लातिनी अमेरिका के देशों में है—यानी उन देशों में जहाँ नयी वैश्विक व्यवस्था के चरण सबसे पहले पड़े थे। इसी बदहाली का नतीजा है कि विश्व व्यापार संगठन की मार झेलने वाले लातिनी अमेरिका के देश—मेक्सिको, ब्राजील, वेनेजुएला और अर्जेंटीना—पिछले वर्षों में उथल-पुथल और राजनीतिक बदलाव के दौर से गुजर रहे हैं। वेनेजुएला का संकट तो अपनी सरहद पार कर वैश्विक तेल संकट में इजाफा कर रहा है। वैश्विक व्यवस्था के एक कोने में सिकुड़े खड़े भाजपा शासित भारत की स्थिति दयनीय होती जा रही है। सारी आर्थिक हकीकत को नजरअंदाज कर आठ फीसदी राष्ट्रीय आय की बढ़ोतरी की प्रधानमंत्री वाजपेयी की घोषणा अर्थशास्त्रियों के बीच महज उपहास का विषय बनी हुई है। इन अर्थशास्त्रियों में जो आशावान हैं वे इसके आधे से कुछ अधिक यानी पाँच से साढ़े पाँच प्रतिशत को संभव मानते थे पर ये 4.4 फीसदी तक ही पहुँच सकी है। लेकिन राष्ट्रीय आय की बढ़त के थोक आंकड़े प्रायः हकीकत पर पर्दा डालने वाले होते हैं।

पिछले वर्षों में सारे संसार की आय में लगातार इजाफा हो रहा है। लेकिन इसी अवधि में देशों के बीच और देशों के भीतर संपन्न और निम्न आय वालों के बीच गैर-बराबरी बढ़ती गई है जो संयुक्त राष्ट्र और विश्व व्यापार संगठन के अध्ययनों से जाहिर होता रहा है। अतः अगर राष्ट्रीय आय में बढ़ोतरी होती भी है तो भी देसी और विदेशी पूँजीपतियों के पक्ष में जैसी नीतियाँ चलाई जा रही हैं उससे आम लोगों में बेरोजगारी और गरीबी बढ़ेगी ही। जिस विदेशी निवेश की आशा में भाजपा सरकार विदेशी पूँजी को तरह-तरह की सुविधाएँ दे रही थी वह भी मेहरबान नहीं दिखाई देती। पड़ोसी चीन में जहाँ पिछले साल बावन अरब डालर का विदेशी निवेश हुआ वहाँ भारत का आंकड़ा इसके दसवें भाग से भी कम यानी चार अरब डालर के इर्दगिर्द ही रह पाया। कुल मिलाकर भाजपा की आर्थिक नीतियाँ असफल रही हैं जिससे देश पर विदेशी पूँजी का प्रभाव तो बढ़ा है लेकिन पूँजी का इजाफा नगण्य रहा है। चारों तरफ लोग बेरोजगार हो रहे हैं और किसान आर्थिक संकट के कारण आत्महत्या के लिए विवश हो रहे हैं। भाजपा की नीति में बदलाव को इसी पृष्ठभूमि में समझा जा सकता है। अब लोगों को आर्थिक नीतियों से लुभाने के बदले भाजपा उनमें उन्माद पैदा कर विशेष दिशा में हाँकने की राजनीति अपना रही है।

ऊपर वर्णित स्थितियाँ ऐसी हैं जिनमें फासीवाद के लिए जमीन तैयार होती है। बेरोजगारों की बढ़ती फौज और उनका असंतोष, विकल्प का अभाव या अनिश्चितता और इससे किसी भावनात्मक मुद्दे पर उन्माद पैदा कर सकने की संभावना। फासीवाद के दो क्लासिकी उदाहरण इटली और जर्मनी में अलग-अलग तरह से ऐसी ही स्थितियाँ क्रमशः मुसोलिनी और हिटलर को सत्ता में लाई थीं। इटली में इस बात का असंतोष था कि उसे प्रथम विश्वयुद्ध में मित्र राष्ट्रों द्वारा उन भूभागों पर कब्जा नहीं दिया

गया था जिनके वे अपने को हकदार मानते थे—यानी अतृप्त विस्तारवादी आकांक्षा। एक विवाद का मुद्दा फ्यूम पर अनधिकृत कब्जा था। 1920 में मजदूरों की लंबी हड़ताल और फिर कारखानों को स्वयं अपने हाथ में लेने का अभियान आर्थिक कारणों से विफल रहा। इससे समाजवादी नेतृत्व से भरोसा टूटने लगा था। ज्ञातव्य है कि मुसोलिनी स्वयं पहले समाजवादी था और बाद में युद्ध का समर्थक बन गया था। इसी माहौल में उसने लंपट तत्त्वों को लेकर ब्लैक शर्ट नामक निजी सेना का गठन किया जिनका उपयोग मजदूरों के खिलाफ दंगा और आतंक फैलाने में होता था। इनकी मदद से अराजकता फैलाकर अंततः उसने इटली के राजा को उसे सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करने को मजबूर किया। इसके बाद धीरे-धीरे इटली को पूरी तरह एक फासीवादी तानाशाही में बदल दिया गया। लोगों को प्राचीन रोम की यशगाथा से सैन्य शक्ति बढ़ाने की ओर मुख़ातिब किया गया।

जर्मनी में भी प्रथम विश्व युद्ध की पराजय और फ्रांस, ब्रिटेन आदि द्वारा लादी गई शर्तों के खिलाफ गहरा असंतोष था। अर्थव्यवस्था चौपट हो गई थी और युद्ध से लौटे नौजवानों के पास कोई काम नहीं था। स्वयं हिलटर युद्ध में कौरपोरल रह चुका था। इनमें जर्मन साम्राज्य को फैलाने का सपना जीवित था। 1930 की मंदी ने स्थिति को और भी कठिन बना दिया था। हिटलर ने युद्ध से लौटे जवानों को लेकर अपना निजी सैनिक दस्ता 'स्टॉर्म ट्रुपर्स' बनाया। यही राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के गुरु गोलवलकर का प्रेरणा स्रोत था जिसके मॉडल पर उन्होंने अपने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का निर्माण किया। हिटलर ने यहूदियों और 'गैर आर्य' नस्लों के खिलाफ़ जर्मन लोगों में नफरत फैला उनके सफाए की नीति अपनाई जिसे गोलवलकर ने अपनी पुस्तक 'वी और आवर नेशनहुड डिफाइंड' में आदर्श के रूप में चिह्नित किया था। जर्मनी के सोशलिस्टों और कम्युनिस्टों की आपसी लड़ाई और बार-बार होने वाले सत्ता परिवर्तनों के बीच—जो अक्षम साबित हो रहे थे—हिटलर पहली बार अल्पमत में होते हुए भी सत्ता में आया। धीरे-धीरे सहयोगियों का सफाया कर उसने सत्ता को पूरी तरह अपने हाथ में ले लिया। इसके बाद से सरकारी दमन और अपने स्वयंसेवकों यानी स्टॉर्म ट्रुपर्स के बल पर आतंक का राज्य फैला नात्सी तानाशाही कायम की।

अब भाजपा कुछ ऐसी ही नीति की तरफ आ रही है जिसमें लोगों के जीवन की बुनियादी जरूरतों की पूर्ति करने में अक्षम उसकी सरकार राष्ट्रीय गौरव, जिसे वह हिंदुत्व से जोड़ती है, के यशगान और पड़ोसियों से संघर्ष की ओर लोगों का ध्यान

केंद्रित कर सके। इसके पीछे इसका भीतरी सांगठनिक संकट भी है। अटल बिहारी वाजपेयी का स्वास्थ्य काफी खराब हो चुका है जो साफ दिखाई देता है, भले ही भाजपा नेता इस तथ्य से बार-बार इनकार करते हों। इसमें संदेह है कि अगले लोकसभा चुनाव के बाद भाजपा का नेतृत्व सँभालने की स्थिति में वाजपेयी रहेंगे।

यह भी संदिग्ध है कि भाजपा का कोई दूसरा नेता राजग के विविध नीति वाले या नीतिहीन दलों को इकट्ठा कर सरकार जोड़ पाएगा। इससे गठजोड़ सरकार की संभावना काफी कमजोर दिखती है। इससे भाजपा को अपने पुराने फासीवादी एजेंडे को लेकर सांप्रदायिक विभाजन करा जनमत अपने पक्ष में करना ज्यादा भरोसेमंद लगता है। इसी संदर्भ में दंगाई माहौल फैला गुजरात के चुनाव में दो तिहाई बहुमत प्राप्त करने और नरेंद्र मोदी के एक सशक्त नेता के रूप में उभरने से संघ परिवार की आशा जगी है। अब वे हिंदुत्व के मुद्दे पर ढुलमुल नीति वाले नेताओं को लीक पर लाने में सफल हो सकते हैं। आडवाणी 'भारत हिंदू राष्ट्र नहीं हो सकता' वाले अपने वक्तव्य पर संघ परिवार की गालियाँ और डाँट सुनने के बाद अब रास्ते पर आ गए हैं। अब संघ परिवार तब तक जब तक वे प्रासंगिक लगेंगे, उनका इस्तेमाल बेहिचक कर सकता है। भाजपा की असली समस्या यह होगी कि क्या वह अगले विधानसभा चुनावों और फिर लोकसभा चुनावों के पहले देश में इतना दंगा-फसाद करा सकेगी जिससे गुजरात की तर्ज पर सांप्रदायिक ध्रुवीकरण हो सके? आम भारतीयों की सहिष्णुता के मद्देनहर यह आसान नहीं लगता। गुजरात की सफलता के पीछे संघ परिवार की दशकों की तैयारी और वहाँ बार-बार होने वाले जातीय और सांप्रदायिक दंगों के इतिहास का महत्त्वपूर्ण हाथ था।

उत्तर प्रदेश जो उनका पारंपरिक गढ़ था, मायावती से गठजोड़ के कारण उनके हाथ से खिसकता नजर आता है। ओडीशा, असम, बंगाल और दक्षिण के राज्यों में भाजपा या संघ परिवार की कोई हैसियत नहीं है। बिहार और झारखंड में भी उन्हें समता या जनता दल-यू के समर्थन पर निर्भर रहना पड़ता है। बचा मध्यप्रदेश और राजस्थान जहाँ वे अकेले कांग्रेस के मुकाबले खड़े हैं। इन राज्यों में भाजपा अपनी दंगाई रणनीति को आगे बढ़ाने का प्रयास कर सकती है। लेकिन सफलता अनिश्चित है। इसकी एक सुविधा यह जरूर है कि इसके सहयोगी दल व्यक्ति आधारित हैं चाहे बिहार में जॉर्ज फर्नांडिस या नीतीश कुमार हों, ओडीशा में नवीन पटनायक, प. बंगाल में ममता बनर्जी, आंध्र में चंद्रबाबू नायडू और उत्तर प्रदेश में मायावती। इन दलों को सरकारी नीतियों या धर्म-निरपेक्षता के मूल्यों से कुछ लेना-देना नहीं है। इन्हें मंत्री पद या कुछ दूसरे अधिकार देकर चुप किया जा सकता है।

इसके बावजूद तत्काल कुछ समय तक भाजपा को मिलीजुली सरकारों की नीति पर चलने की मजबूरी होगी—तब तक जब तक जनता से कटे नीतिविहीन इन सहयोगी दलों के समर्थन के आधार पर भाजपा अपना कब्जा नहीं जमाती। यह समय लेने वाली लंबी प्रक्रिया होगी। इस बीच देश की आर्थिक स्थिति इतनी खराब होती जा रही है कि किसी केंद्रित तानाशाही सत्ता की स्थापना की बजाय भारत दंगे और गृहयुद्ध के माहौल से विघटन की तरफ बढ़ता जाएगा। इसका विकल्प होगा लोकतांत्रिक और धर्मनिरपेक्ष आस्थाओं को मजबूत कर एकता और सहिष्णुता के माहौल में देश को वर्तमान आर्थिक संकट से निकालने का गंभीर प्रयत्न करना। लेकिन यह विकल्प भाजपा और संघ परिवार की सत्ता महत्त्वाकांक्षा के विपरीत पड़ता है। भाजपा के विपक्ष में खड़े दल भी मूलतः सत्ता केंद्रित हैं और अपने दलीय हित और राष्ट्रीय हित के बीच कोई समन्वय स्थापित नहीं कर पाए हैं। इससे उनका भाजपा विरोध अक्सर बिखर जाता है। लेकिन सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि आर्थिक नीतियों के मामले में वे भी मोटा मोटी वैश्वीकरण को कबूल करते हैं। ऐसी स्थिति में वैकल्पिक राष्ट्रीय आर्थिक नीति अपनाने में वे अक्षम दिखते हैं। यह सब देश को एक घोर अनिश्चितता के दौर में ले जा रहा है। एक तरफ आक्रामक फासीवाद है तो दूसरी ओर अनिर्णय की स्थिति में खड़ा लोकतांत्रिक विकल्प।

(ख)
आदमी विज्ञान के आईने में

नस्लवादी मान्यताएँ और जीन विज्ञान

द्रौपदी के स्वयंवर के समय जब प्रतियोगिता से कर्ण को उसके कुल के कारण बाहर किया जा रहा था तो दुर्योधन ने एक निषेध के साथ महाभारत की सबसे सारगर्भित बात कही थी। उसने कहा था कि मनुष्यों और नदियों के उद्गम की तलाश नहीं करनी चाहिए, यह सदा गंदला होता है। फिर भी अगर उद्गम तलाशने के प्रति लापरवाही नहीं बरती गई होती तो अपने सबसे बड़े भाई कर्ण की हत्या का अनर्थ पांडवों ने नहीं किया होता। इतिहास में आदमी के खिलाफ आदमी के अत्याचारों के बहुत से अध्यायों के पीछे अनजाने कुलों और मूलों की श्रेष्ठता, हीनता और भिन्नता के मिथकों का लोगों द्वारा आत्मसात किया जाना रहा है। हमारे ही देश में अपने पूर्वजों के वंश के प्रति संशयग्रस्त शासक अपनी हीन भावना से मुक्ति के लिए सदा उन ब्राह्मणों का सहारा ढूँढ़ते रहे जो उनकी वंशावली को विरुदावली में बदल सकते थे। स्वयं विभिन्न मूलों से आए ब्राह्मणों की शक्ति का शायद सबसे बड़ा स्रोत इस तरकीब से राजाश्रय प्राप्त करते रहना था।

वर्णवादी अतीत में लिथड़े हमारे हिंदुत्ववादी घूम-फिर कर आर्यों के उद्गम का सवाल उठाते रहते हैं—जो उनके हिसाब से भारत में ही रहा है। दिलचस्प बात यह है कि यह स्थापना भारतीय है ही नहीं। नस्ल की स्थापना पूरी तरह यूरोपीय विद्वानों की है और उस समय अस्तित्व में आई जब यूरोप सारे संसार पर अपना प्रभुत्व जमाने लगा था और संसार को समझने की भूख के साथ उसमें अपने केंद्रीय स्थान को सिद्ध करने की अभिलाषा भी जगी थी। इसी क्रम में कतिपय भाषा-परिवारों के अध्ययन के साथ-साथ इसे बोलनेवालों की नस्ल की अवधारणा का जन्म हुआ, जिसे बाद में आर्य कहा गया।

सन् 1786 में सर विलियम जोंस ने जो उस समय भारत में एक जज थे, रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के समक्ष एक व्याख्यान में इस बात की ओर ध्यान दिलाया कि संस्कृत भाषा मूल और क्रिया दोनों में ही यूनानी और लातिन भाषा से बहुत मिलती है जो महज संयोग नहीं हो सकता। उनके अनुसार यह समानता बतलाती है कि दोनों का उद्गम एक रहा है। समय के साथ भाषाओं में परिवर्तन

होते रहते हैं और ऐसे ही परिवर्तनों से एक ही भाषा की शाखाएँ विभक्त होकर दूर होती गईं। इस तरह एक प्राक्-हिंद-यूरोपीय (प्रोटो-इंडो-यूरोपियन) भाषा की कल्पना की गई जिससे यूरोप की अनेक भाषाएँ, फारसी और संस्कृत से निकली भारतीय भाषाएँ जनमीं। वर्तमान संदर्भ में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भाषा के साथ उस मानव समूह और उसके स्थान के विषय में अटकलें लगने लगीं जिसमें इस भाषा का उत्स था। बाद में कुछ लोगों ने इसे उस समूह से जोड़ना शुरू किया जिसने ऋग्वेद को जन्म दिया। इसके श्लोकों में दिए गए प्राकृतिक वर्णनों के आधार पर उस स्थान की अटकलें लगने लगीं जहाँ इस वेद के रचयिता रहे होंगे।

ज्यादातर यूरोपीय विद्वान और तिलक सरीखे भारतीय विद्वान भी इस भाषा का उत्स सुदूर उत्तरी अक्षांशों में मानते थे। ज्यादातर विद्वान यह मानते थे कि रूस के दक्षिण-पश्चिमी घास के मैदानी इलाकों में इनका प्रारंभिक स्थान रहा होगा और अश्वबल इनकी सामरिक शक्ति रही होगी। यह भी माना जाने लगा कि इसी की एक शाखा ने 1500-2000 ईसा पूर्व में उत्तर पश्चिम से भारत पर आक्रमण किया। ऋग्वेद इन्हीं आक्रमणकारियों की काव्य रचनाओं का संग्रह है। बाद में दो यूरोपीय विद्वानों कोंतदगोबिनो और एचएस चैंबरलेन ने उन मानव समूहों को, जो इस भाषा से जुड़े थे, एक श्रेष्ठ नस्ल 'आर्य' के रूप में चिह्नित किया।

इसी सोच की शैतानी परिणति हिटलर के उस आक्रामक नस्लवाद में हुई, जिसके अनुसार आर्य ही श्रेष्ठ संस्कृति के जनक और धारक हैं और उन्हें दूसरी हीन नस्लों पर शासन करने का हक है। उसके अनुसार इस नस्ल के शुद्ध प्रतिनिधि 'नार्डिक' लोग थे जिनका जर्मन आबादी में बाहुल्य था। इनकी विशेषता इनकी बनावट—यानी भव्य ललाट, लंबी काया, शुद्ध गौर वर्ण और नीली आँखों में दिखाई देती है। यह भी दिलचस्प है कि स्वयं हिटलर इस कसौटी पर खरा नहीं उतरता था। वह अपेक्षाकृत छोटे कद का और रंग के हिसाब से ब्लौंड नहीं था। शायद इससे पैदा हीन भावना से ही हिटलर ने श्रेष्ठता के मानकों को बढ़-चढ़ कर समाज पर थोपने की कोशिश की। अपने अति उत्साह में उसने मानव वंश की शुद्धता के लिए नस्लों के बीच विवाह को वर्जित करने की कोशिश की और विशाल पैमाने पर 'हीन मानवों' को जिनमें यहूदी, जिप्सी, विकलांग, समलैंगिक आदि शामिल थे, नष्ट करने का अभियान चलाया। इसकी भीषण परिणति हुई नियोजित ढंग से, अधुनातन उपकरणों से नरसंहार में, जिसमें लगभग साठ लाख यहूदी और दूसरे 'हीन मानवों' को मार डाला गया था। यह नरसंहार संसार में हौलोकास्ट नाम से कुख्यात है।

हिटलर का नस्ल विशेष की श्रेष्ठता और संस्कृति का यही नमूना राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सबसे प्रमुख विचारदाता गुरु गोलवलकर का आदर्श बना और अपनी पुस्तक

'वी और आवर नेशनहुड डिफाइंड' में गोलवलकर ने भारतीयों को जर्मनी की इस 'श्रेष्ठ राष्ट्रीयता' का अनुकरण करने की सलाह दी। महात्मा गाँधी की हत्या या अल्पसंख्यकों के विरुद्ध नियोजित दंगों का आयोजन दरअसल राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सोच में गहरे रूप से बैठी इसी धारणा की परिणति थी, किसी तात्कालिक आवेश का परिणाम नहीं। गौरतलव है कि आज तक लालकृष्ण आडवाणी या अटल विहारी वाजपेयी ने कभी भी स्पष्ट रूप से गोलवलकर की उस बुनियादी विचारधारा की निंदा नहीं की है। जो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का बौद्धिक आधार है।

गोलवलकर के हिटलर प्रेम पर चालीस के दशक में एक बार राहुल सांकृत्यायन ने व्यंग्य से यह टीका की थी कि हिटलर की दृष्टि में गोलवलकर के आर्य वर्णसंकर की आठवीं कोटि में ही रखे जाएँगे। उनका संकेत हिटलर की मान्यता के आर्यों (नॉर्डिकों) की बनावट की तरफ था। फिर भी आर्य होने का अहं या वहम देश के उन समूहों से गया नहीं है जिनमें हिंदुत्ववादियों का आधार है। इसका एक कारण यह है कि यह समूह देश के अभिजात वर्ग से आता है जिसमें अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार था और जिनका जातीय आधार उच्च वर्णों में था। कुछ अंग्रेज विद्वानों ने यह सिद्ध करने की भी कोशिश की थी कि देश के उच्च वर्ण के लोग आर्य थे और निचले वर्णों में ग़ैर-आर्यों की बहुलता है। चूंकि अंग्रेज स्वयं को भी इंडो-यूरोपियन समूह का यानी आर्य मानते थे, भारत के उच्च वर्णों में भी इस बात का गौरव था कि अतीत में उनके और गौरांग शासकों के पूर्वज एक ही कुल के थे। नीरद सी चौधरी ने, जिनकी विद्वत्ता पर शक नहीं किया जा सकता, अपनी पुस्तक 'द कंटिनेंट ऑफ सिर्स' में इसी त्रासदी का रोना रोया है कि आर्यों को भारत आकर यहाँ के प्रतिकूल वातावरण में रहने को मजबूर होना पड़ा।

हालाँकि इतिहास और शारीरिक बनावट के तत्कालीन मानकों के आधार पर किए गए अध्ययनों के नतीजों से नस्ल और जाति के संबंध की बात उनके लिए बेबुनियाद सिद्ध हो गई, जो पारंपरिक समाज में वर्चस्व रखते थे और जिनमें कुलीनता का भाव खत्म नहीं हुआ। हिंदुत्व के नाम पर जो राजनीति चल रही है दरअसल इसी श्रेष्ठता को स्थापित करने का उद्यम है। यह राजनीति करनेवाले आर्य और उनकी भाषा संस्कृत की प्रधानता कबूल करते हैं और हिंदू धर्म—जिसको वे अपनी व्याख्या के साथ सारे भारत का धर्म घोषित करते हैं—की मान्यताओं को सबके लिए अनिवार्य मानते हैं। यह अलग बात है कि तात्कालिक दबाव में वे कभी-कभी इसमें कुछ ढील देने को भी तैयार दिखते हैं।

लेकिन यह ध्यान में रखने की बात है कि गोलवलकर ईसाइयों और मुसलमानों को कभी भी हिंदुओं के बराबर पूर्ण नागरिकता देने को तैयार नहीं थे। इस नीति

के समर्थन में वे यह बतलाने की कोशिश करते हैं कि इस्लाम अथवा ईसाई धर्मों को माननेवाले लोग वाहर से आने वाले आक्रमणकारियों के वंशज हैं या दबाव में धर्मांतरित इन बाहरी धर्मों को मानने वाले हैं। लेकिन देश की आबादी को देशज और आक्रमणकारियों के बीच बाँटने से उनके सामने एक दूसरा संकट पैदा हो गया। अब तक के पश्चिमी और भारतीय विद्वानों में अधिकतर यह मान कर चलते हैं कि आर्य वाहरी लोग थे जो भारत में उत्तर-पश्चिम से आए और पंजाब के इलाके पर कब्जा कर बढ़ते हुए सारे देश में फैल गए।

अब प्रश्न यह उठता है कि अगर देश पर पूर्ण नागरिकता का दावा करने के लिए यहाँ का आदिम निवासी होना जरूरी है तो फिर आर्यों के वंशजों को यह अधिकार कैसे प्राप्त हो सकता है? इसलिए हिंदुत्ववादी इतिहासकार यह साबित करने की अकादमिक कसरत में लग गए कि आर्य बाहर से नहीं आये, दरअसल वे ही यहाँ के प्राचीनतम मूल निवासी हैं। इसके लिए वे नृ-विज्ञान के तथ्यों को दरकिनार कर प्राचीन भारतीय सभ्यता को दस-बीस हजार वर्ष आगे-पीछे करने को भी नाजायज नहीं मानते—वैदिक मिथ्या-मिथ्या न भवति। इस तरह का दबाव कितना हो सकता है यह इससे भी ज्ञात होता है कि 11 मार्च 2004 को किसी के प्रतिवाद में हिंदुस्तान में लिखे गए एक लेख में राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद के निदेशक जगमोहन सिंह राजपूत ने इस बात की शिकायत की है कि मार्क्सवादी इतिहासकारों द्वारा इसे नजरअंदाज किया जाता रहा है कि आर्य भारत के ही मूल निवासी थे, ऐसी स्थापना भी है।

हकीकत यह है कि आधुनिक मानवों यानी 'होमोसापियन' के अस्तित्व का तीस हजार वर्ष से पहले कोई सबूत भारतीय उप-महादेश में नहीं मिलता। अति प्राचीन काल में लगभग डेढ़ करोड़ वर्ष पहले 'रामापिथेकस' नामक अर्ध-मानव के अवशेष जरूर यहाँ पाए गए हैं। लेकिन मानव विकास की दिशा में यह अति प्राचीन कड़ी थी जिसके बाद 'औस्ट्रालोपिथेकस' (आज से पैंतीस से सात लाख साल पहले) के अवशेष अफ्रीका में और चार से ढाई लाख साल पहले के तथाकथित 'जावा मनुष्य' और 'पेकिन मनुष्य' (होमो इरेक्टस) के अवशेष क्रमशः जावा और चीन में पाए गए। भारत में बीच की कड़ियाँ बिल्कुल गायब थीं।

इसलिए अब तक के प्राप्त सबूत यह नहीं बतलाते कि आधुनिक मानव जिनके वंशज आर्य थे, यहाँ विकसित हुए होंगे। जो भी हो, जीवाश्म का अध्ययन और उन चट्टानों का काल निर्धारण जिनमें ये पाए जाते हैं, काफी कुछ अनिश्चित होता है और अति प्राचीन जीवाश्मों के मामले में कार्बन के आइसोटोप के रेडियोधर्मी विकिरण से भी बिल्कुल ठीक काल निर्धारण नहीं हो पाता। वल्दियत स्थापित करने में तो

इससे कोई मदद नहीं मिलती। इसलिए अपनी पसंद के सिद्धांतों को स्थापित करने के लिए अटकलों की काफी गुंजाइश रही है।

यूरोपीय मूल की श्रेष्ठता और बाकी मूलों से इसकी भिन्नता को साबित करने का आग्रह पश्चिमी विद्वानों में बना हुआ था और अध्ययन की तकनीक की अनिश्चितता से कल्पना की उड़ान की काफी गुंजाइश थी। इस तरह अमेरिकन एसोसिएशन ऑफ फिजिकल एंथ्रोपोलॉजी के अध्यक्ष कार्लेटन कून ने 1960 के दशक में यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि आस्ट्रालोआड कैपोआयड कौकेसोआयड कौंगोआयड और मंगोलायड ये सब मानव प्रजाति की उप-प्रजातियाँ हैं जो अपने विकसित रूप में अपनी भिन्नता में दिखाई देती हैं। साथ ही यह भी सिद्ध करने की कोशिश की कि यूरोपियनों का प्रभुत्व जीनों के विशेष विकास का परिणाम है। उनके अनुसार नस्लों की मिलावट से जीनों और समाज का संतुलन बिगड़ जाता है और अगर इससे प्राकृतिक चयन में लाभ नहीं हो तो समाविष्ट हुए बाहरी जीन नष्ट हो जाते हैं।

इस तरह के एक वैज्ञानिक आवरण में नस्लों के भेदभाव और पृथकता को पुनर्स्थापित करने का प्रयास चलता रहा। कुछ धर्मभीरु लोग जो यहूदी-ईसाई परंपरा के इस विचार को मानते थे कि संसार में मनुष्यों की उत्पत्ति आदम से है, एक से अधिक आदमों का होना संभव मानने लगे जिनसे अलग-अलग नस्लें पैदा हुईं। लेकिन इसी समय क्रिक और वाट्सन ने डीएनए के अध्ययन से जीन विज्ञान (जेनेटिक्स) के क्षेत्र में अधिक विश्वसनीय अध्ययन की नींव डाल दी। इससे मानव आनुवांशिकी और मानव वंश वृक्ष के अध्ययन की एक ऐसी तकनीक हासिल हो गई कि मानवों की भिन्नता साबित करनेवाले सारे तथाकथित विज्ञान धराशायी हो गए और मनुष्य संसार में कैसे फैले और उन्होंने भिन्नता का बाहरी आवरण क्यों धारण किया यह एक हद तक वैज्ञानिक निश्चितता से ज्ञात होने लगा।

किसी की वल्दियत या मातृत्व के विवाद को हल करने की एक आसान तकनीक जीन टेस्ट है। वल्दियत ही क्या किसी भी अपराध में अगर अपराधी के शरीर का कोई हिस्सा, भले वह एक बाल ही क्यों न हो, जाँचकर्ताओं को मिल जाए तो फिर अपराधी के लिए अपराध में अपनी संलग्नता छिपाना लगभग असंभव हो जाएगा। कारण यह है कि संसार में किन्हीं दो व्यक्तियों के जीन की शृंखला समान नहीं होती। व्यक्तियों की पहचान की तकनीक हाथ लग जाने पर वैज्ञानिकों में यह विचार जगा कि क्यों न इस तकनीक को इस तरह विकसित किया जाए कि मानव समूहों की वल्दियत और हो सके तो उनके पूर्वजों के काल और स्थान का भी पता लगाया जाए। पर ऐसी पहल को तब तक इंतजार करना था जब तक कोशिकाओं के स्तर पर अध्ययन में जीव विज्ञान में कुछ युगांतकारी खोज न हो जाती।

यह बात तो डार्विन के बाद से आमतौर पर मानी जाने लगी थी कि शरीर या स्वभाव में माँ-बाप से मिले आनुवांशिक गुण प्राकृतिक चयन प्रक्रिया (नेचुरल सेलेक्शन) से या तो प्रजाति में तेजी से फैल जाते हैं या नष्ट हो जाते हैं। लेकिन यह अज्ञात था कि ये गुण विकसित या परिवर्तित कैसे होते हैं? क्या ये परिवर्तन (म्यूटेशन) अचानक होते हैं या स्थितियों से अनुकूलन की जरूरत के अनुसार? अगर परिवर्तन अप्रत्याशित रूप से होते रहते हैं तो क्यों होते हैं? अगर परिवर्तन में कोई अनुक्रम या नियम दिखे तो इनके पूर्ववर्ती संबंधों की तलाश की जा सकती है। इसी खोज में कुछ ऐसे सुराग मिले जिनसे मानव समूहों के पूर्वजों और उनके काल के निर्धारण की आशा जगी।

डीएनए की बनावट की खोज तो पचास के दशक में हो चुकी थी और यह ज्ञात हो चुका था कि ये चार न्युक्लियोटाइड आधारित—ऐडेनीन, थाइमीन, साइटोसीन और ग्वानीन—की विशाल लड़ियाँ होती हैं। इसका पूरा रासायनिक अर्थ तो जीव वैज्ञानिक ही समझ सकते हैं। लेकिन जो बात आम समझ की है वह यह कि ये लड़ियाँ विशाल होती हैं जिनमें ऐडेनीन (ए), एवं थाइमीन (टी), तथा साइटोसीन (सी) और ग्वानीन (जी) का गठजोड़ बिना अपवाद शुरू से आखिर तक रहता है। इस लड़ी में इन जोड़ियों की संख्या तीन अरब के आसपास होती है और जीवों के गुणों के सूचक जीन इन जोड़ों के क्रम द्वारा निर्धारित होते हैं। मोटा-मोटी जो बात हमारी समझ में आनेवाली है वह यह कि इस क्रम के परिवर्तन पर ही वंशानुगत गुणों का परिवर्तन भी निर्भर करता है। मानव कोशिकाओं की नाभि में ये डीएनए तेईस जोड़ी लड़ियों पर जिन्हें क्रोमोसोम कहा जाता है, अवस्थित होते हैं। कोशिकाओं की विभाजन की शुरुआत नाभिक विभाजन से होती है जिसमें क्रोमोसोमों की कॉपियाँ नयी कोशिकाओं की नाभि में आ जाती हैं।

मगर कॉपी करने के क्रम में डीएनए की लड़ी में जगह-जगह कुछ भूल भी अनिवार्य रूप से होती है और जीव वैज्ञानिक अब यह मानने लगे हैं कि आनुवांशिकी में होनेवाले परिवर्तन का मूल स्रोत यही है। अगर प्रजाति को इन परिवर्तनों से विशेष लाभ नहीं हो तो ज्यादातर नये परिवर्तन हजारों पीढ़ियों में क्रोमोसोम की जोड़ियों में फेंटे जाने की प्रक्रिया में नष्ट हो जाते हैं। इससे परिवर्तन कब और किस बिंदु पर हुआ इसका सुराग भी नष्ट हो जाता है। लेकिन खोजी वैज्ञानिकों ने एक दूसरा सुराग ढूँढ़ निकाला। कोशिका के भीतर एक अवयव होता है मिटोकौंड्रियन, जिसकी अपनी डीएनए की लड़ी होती है। यह लड़ी छोटी होती है और एकल—यानी इसकी जोड़ी नहीं होती। इस तरह शफ्लिंग (जुटने, अलग होने) से इसमें परिवर्तन नहीं होता।

यह अतीत में झाँकने का अच्छा जरिया हो सकता है। एक दूसरा जरिया दिखाई

दिया नर सेक्स निर्धारित करने में भूमिका निभानेवाला वाई क्रोमोसोम। यह भी दूसरे क्रोमोसोम से भिन्न, शफ्लिंग की प्रक्रिया से बाहर रहता है। इस तरह हजारों पीढ़ियों तक इसकी पहचान सुरक्षित रह सकती है। चूंकि यह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक संतति द्वारा स्थानांतरित होता रहता है, इसके जरिए किसी समूह का तादात्म्य उसके पूर्वजों से स्थापित किया जा सकता है। पीढ़ियों की संख्या और हर पीढ़ी में हुए परिवर्तन के आधार पर काल की गणना भी संभव होती है। ऊपर की बातें बहुत-से लोगों को अति जटिल लगेंगी, जो वे हैं। यहाँ इन बातों का थोड़ा विवरण इसलिए दे दिया गया कि इसका अंदाज हो सके कि अपने औजार बक्स के कैसे जटिल उपक्रमों के सहारे वैज्ञानिक अतीत की धुंध से तथ्य निकालने में लगे हैं।

स्पेंस वेल्स ने अपनी पुस्तक 'द जर्नी ऑफ मैन' में लिखा है कि एक शोधकर्ता रेबेका कैन ने अपने शोध के लिए दूसरे लोगों के साथ मिल कर दुनिया के विभिन्न भागों में फैले हुए मनुष्यों की विविधता का एक अध्ययन शुरू किया। इसके लिए इन लोगों ने दुनिया के विभिन्न क्षेत्रों के लोगों से, जिनमें यूरोप से लेकर न्यू गिनी और अमरीका के मूल निवासी सभी शामिल थे, मानव प्लेसेंटा (गर्भ में शिशु को माँ से पोषक तत्त्व देनेवाला अवयव) के नमूने इकट्ठा किए जो मिटोकौंड्रियन डीएनए का अच्छा स्रोत है। काफी सावधानी और श्रम से किए गए इस शोध का नतीजा चौंकानेवाला रहा।

विविधता की बजाय इस शोध ने निर्विवाद रूप से यह साबित कर दिया कि सभी स्रोतों से जमा मिटोकौंड्रियन डीएनए का आदि स्रोत एक ही महिला थी जिसका समय लगभग दो लाख वर्ष पहले था और जो संभवतः अफ्रीका में थी। उसके अफ्रीका में होने का अंदाज इससे लगाया गया कि मिटोकौंड्रियन डीएनए में सर्वाधिक भिन्नता अफ्रीका से लिए गए नमूनों में ही थी। इसका यह अर्थ हुआ कि अफ्रीकी अधिक समय से एक दूसरे से अलग बँटे थे और इसलिए सबसे पुराने समूह थे। यह निष्कर्ष इस पर उठे विवादों को सफलता से झेल चुका है और सभी वर्तमान मनुष्यों की आदिमाता डेढ़ लाख साल पहले की यह अफ्रीकी महिला थी। इसे मान्यता मिल गई है।

इसी तरह वाई क्रोमोसोम पर होने वाले परिवर्तनों के विश्लेषण से वैज्ञानिक उस आदिपुरुष की पहचान कर सके जिसकी संतान अफ्रीका के बाहर संसार भर में फैले लोग हैं। मोटा-मोटी उसका समय 59 हजार वर्ष पूर्व निश्चित किया गया और स्थान फिर अफ्रीका ही सिद्ध हुआ। यहीं से आधुनिक आदमी संसार भर में फैले। शोध निष्कर्ष यह नहीं है कि इसके पहले इनके पूर्वज नहीं थे। लेकिन मिटोकौंड्रियन डीएनए और वाई क्रोमोसोम पर हुए परिवर्तन के आधार पर उनके पूर्वजों के संबंध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि संसार में जो भी लोग हैं उनके वंश वृक्ष की तलाश में शाखाओं से नीचे उतरते हुए इसी मूल पर आकर सुराग का अंत हो जाता है। ध्यान में रखने की बात है कि इस सारी तलाश का

आधार आज की दुनिया में जो लोग हैं उनके डीएनए में पाए गए बदलाव हैं। दूसरा कोई आधार हो नहीं सकता था।

आस्ट्रेलिया के मूल निवासियों के संबंध में किए गए शोधों से यह पता चलता है कि वे आज से लगभग पचास से साठ हजार वर्ष पहले आस्ट्रेलिया पहुँच चुके थे। यह समय उसके तत्काल बाद का है जब आधुनिक मनुष्य के आदि पूर्वज अफ्रीका में रहते थे। इसका अर्थ हुआ कि वे इसी काल में उस आश्चर्यजनक यात्रा पर निकल चुके थे जिसमें वे धरती की आधी दूरी, बीच-बीच में विशाल जल राशि के ऊपर से तय कर आस्ट्रेलिया तक पहुँचे। हजारों वर्ष लंबी इस यात्रा के दौरान उनके डीएनए में जो परिवर्तन हुए उनके अध्ययन से इस आदि मानव के वंशजों को वर्गीकृत किया जा सकता है। इससे हमें यह भी पता चलता है कि हमारे भारतीय उप महादेश में कौन से मानव समूह कब आए और बँटे। यह अनुमान लगाया जाता है कि आज से लगभग एक लाख वर्ष पहले प्रारंभ हुए हिमयुग में अफ्रीका के जंगल और घास के मैदान शिकार के लिए जीवों की दृष्टि से विपन्न होते जा रहे थे।

इसी दबाव में लगभग 60 हजार वर्ष पहले जब हिमयुग अपने चरम बिंदु की ओर बढ़ रहा था, हमारे पूर्वज अफ्रीका के पूर्वी तट की ओर बढ़े जहाँ जंगल और मैदान के अतिरिक्त समुद्री तट पर सीप, घोंघे, मछलियाँ आदि खाद्य सामग्री उपलब्ध थीं। चूंकि समुद्र तट की अपेक्षाकृत सपाट भूमि यात्रा के लिए आसान थी, वे तटवर्ती इलाकों से होकर ही आगे बढ़ते रहे। इसकी पहली शाखा अरब के तटीय इलाकों से होते हुए भारतीय तटीय प्रदेश और फिर श्रीलंका, अंडमान द्वीप समूह और सुमात्रा होते हुए न्यू गिनी और आस्ट्रेलिया तक पहुँची। तीन वैज्ञानिकों ने अफ्रीका तट के समूह को एम-168 मार्कर (चिह्न) से वर्गीकृत किया है और तटीय मार्ग से आस्ट्रेलिया तक फैले मानव समूह को एम-130 से। भारत में अंडमान द्वीप समूह के बाशिंदे और थोड़ी संख्या में उनसे मिलते-जुलते दक्षिण भारत के कुछ आदिवासी इसी समूह से आते हैं और वे ही भारत के सबसे प्राचीन मूल निवासी हैं।

भारत में दूसरी और बड़ी मानव लहर पश्चिम एशिया से आई। यह एम-9 से चिह्नित एक समूह से निकली शाखा थी जिसे एम-20 से चिह्नित किया गया है। यह शाखा हिंदूकुश पर्वत के दक्षिणी भाग से भारत में लगभग 30 हजार वर्ष पहले आई। लेकिन इसका इससे पहले आए लोगों से अधिक मिश्रण हुआ इसका सबूत नहीं मिलता। स्पेंस वेल्स के मुताबिक इस समूह के मनुष्य सिर्फ भारत में पाए जाते हैं—महज एक या दो प्रतिशत मध्य-पूर्व की आबादी में। इस तरह इन्हें मूलतः भारतीय मनुष्य

कहा जा सकता है। दक्षिण भारत में पचास प्रतिशत तक पुरुष इस श्रेणी में आ जाते हैं। इसके पहले कोई भी बड़ा मानव समूह भारत में नहीं आया। ये द्रविड़ भाषा-भाषी हैं।

इंडो-यूरोपियन लोगों की लहर का भारत में आने का समय 10 हजार वर्ष अनुमानित है जो स्टेपीज के मैदानी इलाकों से आए। इनका चिह्नक एम-17 है और इनकी उपस्थिति इंडो-यूरोपियन भाषा बोलने वालों में अधिक है। ये दिल्ली के आसपास के इलाके की आबादी में 35 प्रतिशत तक हैं। इससे यह अंदाज लगाया जाता है कि बाहर से भाषा ही नहीं आई बड़ी संख्या में यह भाषा बोलनेवाले लोग भी आए। ये दस से पंद्रह हजार वर्ष पहले साइबेरिया से युक्रेन तक के इलाकों में बसे थे। इससे बहुत कुछ उन लोगों के अनुमानों की पुष्टि होती दिखाई देती है जो भाषा और अन्य पुरातात्विक सबूतों के आधार पर भारत पर उत्तर-पश्चिम से 'आर्यों' के आक्रमण की बात करते रहे हैं। लोगों का बड़ी संख्या में आने का सिलसिला ऋग्वेद के आधार पर अनुमानित ईसा पूर्व 2000 के 'आक्रमण' से बहुत पहले हो चुका था।

इन अध्ययनों के विविध आनुवांशिक तत्त्वों का जितना अनुपात बतलाया गया है उससे कहीं बड़े पैमाने पर जीनों का वास्तविक घालमेल आबादियों में है। कारण यह है कि आबादियों के स्थानांतरण का अध्ययन मूलतः वाई क्रोमोसोम के अनुपात पर आधारित है जो पुरुष सेक्स का सूचक है। लेकिन जैसा सदा होता रहा है, जब बाहर से किसी आबादी का आक्रमण होता है तो युद्ध में मर्द मार दिए जाते हैं या खदेड़ दिए जाते हैं। औरतों का बड़ा हिस्सा नवागंतुकों द्वारा आत्मसात कर लिया जाता है। इसलिए आबादियों की अंतर्भुक्ति का अनुपात वांई क्रोमोसोम द्वारा निर्धारित स्तर से कहीं अधिक होता है। अतः अगर आधुनिक मनुष्यों की मूल एकता की बात छोड़ भी दी जाए तो सतही स्तर पर भी मूलों की शुद्धता की बात का कोई अर्थ नहीं होता।

विडंबना ही है कि ह्यूमन जेनोम प्रोजेक्ट के इस निष्कर्ष के बाद भी कि दुनिया के विविध मानव समूहों में जीन के स्तर पर कोई भेद नहीं है, और ऊपर चर्चा में आए अध्ययनों के बावजूद जो यह भी बतलाते हैं कि वास्तविक फर्क आबादियों के अपने भीतर आबादियों के बीच के फर्क से कहीं अधिक है—श्रेष्ठ, हीन, आर्य, अनार्य आदि में बाँटनेवाले अध्ययन अब भी अकादमिक हलकों में भावनात्मक मतभेद पैदा करते हैं। जितनी आसानी से इतिहासकार और दूसरे अध्येता ठोस तथ्यों की बजाय भावना उभारनेवाले तानाशाहों और अंधविश्वासी गुरुओं के प्रभाव में आ जाते हैं उससे तो यही ज्ञात होता है कि भावनात्मक स्तर पर 'आधुनिक' मनुष्य गुफाओं में रहनेवाले अपने आदि पूर्वजों से एक कदम भी आगे नहीं बढ़ पाया है। 'जेट सेट' और अब 'स्पेस सेट' में होने का वहम उनकी आदिम बौद्धिकता पर खरोंच भी नहीं लगा पाता।

प्रतिस्पर्धा या परस्पर सहयोग

सन् 1902 में प्रकाशित पीटर क्रोपोटकिन की पुस्तक म्यूचुअल एड (परस्पर सहयोग) की लगभग एक सदी बाद समीक्षा चौंका सकती है। आखिर इस एक सदी में लोगों की जीवन-शैली और विचार लगभग पूरी तरह बदल चुके हैं। पुराने राजनीतिक साम्राज्य धराशायी हो चुके हैं, नये औद्योगिक और वित्तीय साम्राज्य का जाल समूची दुनिया में फैल चुका है और हर आदमी के जीवन में उसकी दखल हो गई है। समाजवाद और साम्यवाद, खुद क्रोपोटकिन के भी, आदर्शों की मृत्यु की घोषणा हो चुकी है। अपने को समाजवादी कहने वाले रूस और चीन जैसे विशाल देश भी समाजवादी आदर्शों को त्यागकर पूँजीवादी विजय के आगे घुटने टेक चुके हैं। और पूँजीवाद अब अपने झंडे पर ग्लोबीकरण का नारा बुलंद कर रहा है। दिलचस्प यह है कि इस दौर में पूँजीवादी अंतर्राष्ट्रीयतावादी बन गए हैं जबकि मजदूर रोजगार असुरक्षा के भय से संकीर्ण दायरों में सिमटते जा रहे हैं। पहली दफा उन्मुक्त पूँजीवादी होड़ का सपना विश्व बैंक, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व व्यापार संगठन की तिकड़ी के सुरक्षात्मक साए में अपनी अहमियत स्थापित कर चुका है और इसकी पीठ पर खड़ी है संयुक्त राज्य अमेरिका की महाबली सैन्य मशीन, जो सर्व अमेरिकावाद यानी अमेरिकी प्रभुत्व वाली बहुराष्ट्रीय कंपनियों की ताकत को चुनौती देने की हिमाकत करने वाले किसी भी देश या आंदोलन को कुचल डालने को तैयार है और निर्णायक एकाधिकारवादी सत्ता बन गई है। लेकिन यह नयी व्यवस्था की तो अभी शुरुआत भर है क्योंकि इसका आधार ऐसी सामाजिक व्यवस्था की अवधारणा है जिसमें हर व्यक्ति अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए बाकी दूसरे मनुष्यों से अनवरत युद्धरत है। इस व्यवस्था की मूल प्रेरक शक्ति बेलगाम लालच और मुनाफा है। यह माना जाता है कि इस निर्मम संघर्ष में सक्षम ही बचा रहेगा और बाकी सभी काल के गाल में समा जाएँगे। अब, लगता है, यह उद्देश्य काफी हद तक साकार कर लिया गया है क्योंकि कुछ मुट्ठी भर लोग और देश उस हद तक संपदा बटोर चुके हैं जिसकी सौ साल पहले कल्पना नहीं की जा सकती है और एक विशाल बहुसंख्या ऐसी गरीबी और अपेक्षाकृत जहालत की ओर ढकेल दी गई है जिसकी अतीत में कल्पना भी

नहीं की जा सकती। किसी भी समझदार व्यक्ति के लिए ऐसी स्थिति अस्वीकार्य लगती है। (1996 के मानव विकास रिपोर्ट के मुताबिक, पिछले 30 साल में दुनिया के 20 प्रतिशत सबसे गरीब लोगों की विश्व आमदनी में हिस्सा 2.3 प्रतिशत से घटकर 1.4 प्रतिशत पर पहुँच गया है जबकि 10 प्रतिशत सबसे संपन्न लोगों का हिस्सा 70 प्रतिशत से 85 प्रतिशत तक बढ़ गया। सबसे गरीब और सबसे धनी लोगों का अनुपात 30 : 1 से बढ़कर 60 : 1 का हो गया।)

तो, इसका विकल्प यहाँ-वहाँ छोटे-मोटे सुधारों से नहीं मिलेगा बल्कि मनुष्य की मौजूदा अवधारणा ही पूरी तरह बदलनी होगी। इस मौजूदा दृष्टि को ही बदलना होगा कि प्रकृति ने मनुष्य की नियति अपने पड़ोसी से झगड़ने, दुनिया में उपलब्ध संसाधनों को छीन लेने की तय की हुई है। एक खास व्यवस्था द्वारा पोषित यह मानव दृष्टि घातक है। इसीलिए आज क्रोपोटकिन सर्वाधिक प्रासंगिक हो उठते हैं क्योंकि उन्होंने किसी और से अधिक जोरदार ढंग से इस विचार का खंडन किया था और सिखाया था कि मनुष्य की मूल प्रवृत्ति दया और सहयोग की है। यह भी कि वह अपनी इसी और एकमात्र इसी प्रवृत्ति के कारण प्राकृतिक चयन की प्रक्रिया में बचा रह पाया है और कालक्रम में भव्य कलाकृतियों और जीवन-शैली की रचना कर पाया है।

इस किताब को लिखने के लिए क्रोपोटकिन को तात्कालिक उत्तेजना टी. एच. हक्सले के एक लेख 'द स्ट्रगल फॉर एक्जिस्टेंस इन ह्युमन सोसाइटी' (मानव समाज में अस्तित्व संघर्ष) से मिली थी। इस लेख में हक्सले ने डारविन के प्राकृतिक चयन के सिद्धांत की ऐसी व्याख्या की थी जो पूँजीवादी व्यवस्था की प्रभुत्वशाली धारा के माकूल थी। यह व्याख्या दुनिया में उपलब्ध संसाधनों के लिए मानव मात्र में उन्मुक्त होड़ के विचार पर आधारित थी, जिसमें ताकतवर कायम रहता है और कमजोर का अस्तित्व मिट जाता है। हालाँकि डारविन ने अपने सिद्धांत में सिर्फ यह इशारा किया था कि उन्हीं प्राणियों का अस्तित्व बचा रहा जो पर्यावरण के अनुकूल अपने को ढाल पाए, और इस प्रक्रिया में विभिन्न प्रजातियों के बीच संघर्ष और सहयोग दोनों तरह के कारकों का योगदान रहा है। हक्सले की व्याख्या डारविन के सिद्धांत का मिथ्या निरूपण थी और निस्संदेह तत्कालीन ब्रितानी उद्योगपतियों के स्वच्छंद पूँजीवाद की अवधारणा से प्रेरित थी।

क्रोपोटकिन प्रतिष्ठित प्रकृतिवादी थे और रूस तथा साइबेरिया में प्रकृति के नियमों का बारीक अध्ययन कर चुके थे। इसके अलावा दूसरे जीवविज्ञानियों के अध्ययन से भी उन्होंने काफी सामग्री जुटाई थी। अपने इसी अध्ययन के बूते क्रोपोटकिन को हक्सले के विचार प्रकृति के नियमों के विपरीत लगे। फिर, क्रोपोटकिन नृशास्त्र के भी अध्येता थे जिसमें हरेक का बाकी सभी से संघर्ष के होबेसियाई विचार के विपरीत लगभग बिना अपवाद के यह संकेत मिलता कि सामाजिक उत्थान के

विभिन्न चरणों में स्थित मनुष्य का जीवन परस्पर सहयोग पर ही आधारित रहा है। उस समय के मान्य वर्गीकरण के ही अनुसार क्रोपोटकिन ने एक-एक कर असभ्य (सैवेज) समाजों यानी बुशमैन (दक्षिण अफ्रीका के दक्षिणी पश्चिमी रेगिस्तानी इलाकों में पाई जाने वाली घूमंतू आदिवासी जाति), होटेंटोट (दक्षिण अफ्रीका के ही दक्षिण पश्चिम इलाके में बसने वाली एक और घूमंतू जाति जिसके नाक-नक्श और भाषा बुशमैन से मिलती-जुलती है), ऑस्ट्रेलिया के आदिवासी, पापुआन (पापुआ—न्यू गीनी के मूल बाशिंदे), एस्कीमो वगैरह की सामाजिक प्रथाओं के जरिए से यह दिखाया कि उनके सामाजिक संबंध परस्पर सहयोग पर आधारित हैं और उनमें भाईचारे का गहरा भाव है। फिर, उन्होंने बर्बर कहे जाने वाले समाजों यानी बुरायेक्त, केबैल (उत्तरी-पूर्वी अलजीरिया के पर्वतों पर रहने वाले), काकेसियाई गिरिजनों वगैरह की चर्चा की। उन्होंने उनके ग्राम समुदाय, सामुदायिक कार्यों, न्यायिक प्रक्रिया की विस्तार से चर्चा की, इसके बाद उन्होंने यूरोप के मध्युगीन शहरों में परस्पर सहयोग की महती भूमिका की विस्तृत चर्चा की और यह दिखाया कि किले तथा गृह निर्माण के क्षेत्र में असाधारण उपलब्धियों, महान कलात्मक उपलब्धियों, शहर निर्माण की प्रक्रिया, व्यापार तथा नागर जीवन के विस्तार सभी में परस्पर सहयोग की भावना रची-बसी थी। अंत में उन्होंने अपने समकालीन समाज में परस्पर सहयोग के विभिन्न परिणामों की चर्चा की जिसका एक स्वरूप तो मजदूर संघ बनाने की भावना में ही दिखता है। इस तरह क्रोपोटकिन को इसमें रत्ती भर संदेह नहीं था कि मनुष्य को स्वंतत्र होकर काम करने दिया गया तो उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति सहयोग की भावना ही है।

इस पुस्तक के प्रकाशित होने के बाद की सदी में जीव विज्ञान के क्षेत्र में भारी प्रगति हुई है और सामाजिक संगठन में संपूर्ण परिवर्तन हो चुका है। इसलिए स्वाभाविक सवाल यह खड़ा होता है कि क्रोपोटकिन के विचार हमारे समय में कितने प्रासंगिक हैं? क्या जीव विज्ञान में भारी प्रगति के इस दौर में उनके ये विचार मौजूं हैं कि परस्पर सहयोग की भावना जीव मात्र की मौलिक प्रवृत्ति है? क्या आदिम और मध्ययुगीन दुनिया की विभिन्न सामाज़िक व्यवस्थाओं के अनुभव आधुनिक समय के सामाजिक संगठनों की समस्याओं के लिए आज भी प्रासंगिक हैं?

दिलचस्प तथ्य यह भी है कि टी. एच. हक्सले, जिनके लेख से क्रोपोटकिन यह पुस्तक लिखने को प्रेरित हुए थे, के भी मनुष्य के अस्तित्व के संघर्ष संबंधी विचारों में काफी परिवर्तन आया। 1894 के अपने लेख 'विकासक्रम और नीतिशास्त्र' में उन्होंने लिखा, "समाज में जिसे अस्तित्व का संघर्ष कहा जाता है (मैं खुद इस पद के हल्के तौर पर इस्तेमाल का दोषी हूँ), वह एक तरह की प्रतिस्पर्धा है जो अस्तित्व के लिए नहीं बल्कि आनंद के लिए होती है..." और बाद में उनका सुझाव था, "उसे (बच्चे को) आत्मनियंत्रण और आत्मत्याग के सबक सीखने होंगे। लेकिन

आत्मनियंत्रण और आत्मत्याग की साधना आनंद नहीं देती, हालाँकि उससे आनंद से भी बढ़कर कुछ हासिल होता है।"

बाद के अनेक जीव विज्ञानियों ने प्राणियों में सहयोग की भावना संबंधी मूल प्रवृत्ति के होने की पुष्टि की जिसे वे परोपकारिता कहते हैं। एक प्रमुख जीव विज्ञानी डब्लू. सी. एली ने *साइंस* पत्रिका में प्रकाशित 11 जून 1943 के अपने लेख जहाँ 'फरिश्ते भी परहेज करते हैं' में लिखा, "सामाजिक जीव विज्ञान के अध्ययनों से जो तस्वीर उभरती है, उसके अनुसार सहयोग और उसकी विपरीत भावना दोनों ही साथ-साथ होती हैं। प्रकृति में स्वार्थ और परोपकार दोनों प्रकार की भावनाएँ काम करती हैं और दोनों महत्त्वपूर्ण हैं। सवाल यह उठता है कि कौन-सी भावना अधिक मौलिक और ताकतवर है। ऐसे किसी भी आकलन में अल्पकालिक और दीर्घकालिक दोनों तरह के प्रभावों को ध्यान में रखना चाहिए। काफी अध्ययन और सोच-विचार के बाद हर्बर्ट स्पेंशर के उलट मेरा गंभीर निष्कर्ष है कि सहयोग की भावना जीव-विज्ञान के संदर्भ में अधिक महत्त्वपूर्ण और ताकतवर है। सहयोग, परोपकार की प्रवृत्तियों और असहयोग में नाजुक संतुलन है। कई बार सहयोग की प्रवृत्ति हार जाती है। लेकिन लंबे समय में परोपकार की भावना से प्रेरित ताकतें ही कुछ मजबूत दिखती हैं।"

लेकिन संतोषजनक व्याख्या के लिए यह दिखाना जरूरी है कि परोपकार की भावना आनुवांशिक गुण है। जे. बी. एस. हाल्डेन जैसे कुछ प्रमुख जीव विज्ञानी यह उलझन व्यक्त करते रहे हैं कि व्यक्तिगत फायदे के बदले दूसरों का पक्ष लेने की प्रेरणा देने वाली परोपकार की भावना भला अस्तित्व रक्षा के लिए क्यों चुनी जा सकती है। सामान्य तौर पर स्वार्थ की भावना ही प्रबल होनी चाहिए। लेकिन तथ्यों की बारीक समीक्षा के बाद जीव विज्ञानी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि परोपकार की भावना फायदा दिलाती है। 1964 में जीव विज्ञानी डब्लू. डी. हैमिलटन ने गणितीय पद्धति से सजातीय प्राणियों में परोपकार के फायदों को साबित किया। उनके मॉडल को सजातीय चयन कहा जाता है। दूसरे जीव विज्ञानी रॉबर्ट एस. ट्रिवर्स ने इसका विस्तार किया और कहा कि न सिर्फ सजातीय में परोपकार की भावना काम करती है बल्कि विभिन्न प्रजातियों के बीच भी परस्पर सहयोग का व्यवहार होता है। उन्होंने परोपकार की भावना की सक्रियता की विशेष स्थितियों और शर्तों को भी ब्यौरा दिया। उन्होंने मनुष्य में परोपकार की भावना सक्रिय होने की पाँच शर्तें भी गिनाईं : 1. खतरे (यानी अचानक परपक्षी का आक्रमण, अंतर्जातीय आक्रमण वगैरह) के समय मदद, 2. भोजन में साझा, 3. बीमार, घायल वृद्ध और बच्चे की सहायता, 4. उपकरणों को साझा करना और 5. ज्ञान का साझा करना। ये अध्ययन आधुनिक आनुवंशिकी विज्ञान के आधार पर किए गए और इनमें गणितीय पद्धति से निकला निष्कर्ष यही बताता है कि क्रोपोटकिन के परस्पर सहयोग के विचार किसी आदर्शवादी की कपोल कल्पना नहीं थी बल्कि आधुनिक जीव विज्ञान की पुख्ता बुनियाद पर कही गई थी।

परोपकार के प्रति स्वाभाविक झुकाव के विरुद्ध एक और अंतर्जात प्रवृत्ति अंतर्जातीय आक्रमण की होती है। इसके अस्तित्व के बारे में कोनार्ड लारेंज ने अपने अध्ययनों में संतोषजनक व्याख्या पेश की है। लारेंज को आचार-शास्त्र का संस्थापक कहा जाता है। मानव स्वभाव में आक्रामकता और परोपकार के बीच निरंतर युद्ध नहीं चलता है, बल्कि उनके क्षेत्र अलग-अलग हैं। वी. सी. वाइने-एडवार्डस ने प्राणियों, खासकर जो विकासक्रम में उच्चतर स्तर पर खड़े हैं, में अपनी संख्या नियंत्रित करने की एक प्रवृत्ति की ओर ध्यान खींचा। अंतर्जातीय आक्रमण मूल रूप से वह प्रक्रिया है जिससे एक जगह जनसंख्या का घनत्व एक खास स्तर पर पहुँचने के बाद प्राणी दूर जाने लगते हैं, यह अस्तित्व रक्षा के लिए जरूरी जिंसों की किल्लत से बचने की एक अनिवार्य शर्त है। चूंकि मनुष्य अपना जीवन मोटे तौर पर अपनी मूल प्रवृत्तियों से नहीं बल्कि संस्कृति के प्रभाव से संचालित करता है इसलिए अमूमन वह आक्रामकता जैसी कई अंतर्निहित नुकसानदेह प्रवृत्तियों के खिलाफ अपने स्वभाव में अंतर्निहित रक्षा कवचों को नजरअंदाज कर जाता है। नतीजतन, दूसरे प्राणियों के विपरीत मनुष्य में आक्रामकता अपने स्वाभाविक रक्षा कवच को लाँघ जाती है और भयावह परिणाम लाती है। इसी वजह से मनुष्य में परोपकार की भावना पर बल देने के लिए सामाजिक प्रयासों की जरूरत पड़ती है।

यह कुछ हद तक विरोधाभासी लग सकता है लेकिन नृत्तत्त्व विज्ञानी रॉबर्ट आडरे के मुताबिक मनुष्य में सहयोग सहित ऐसी कई भावनाएँ, जिन्हें हम उदात्त भावनाएँ कहते हैं, उस काल की देन हैं जब वह शिकार पर निर्भर था। करीब बीस लाख वर्ष पहले असुरक्षित जंगलों में उसे अपने भोजन की तलाश में भटकना पड़ता था और इस प्रक्रिया में वह दूसरे खूँखार जानवरों का भी शिकार बनता था। अपनी बहुचर्चित पुस्तक *हंटिंग हाइपोथिसिस* (शिकार की अवधारणा) में आडरे लिखते हैं, "किसी बड़े उद्देश्य के लिए निजी हित का त्याग करने, यहाँ तब कि अपना बलिदान करने की इच्छा शायद घबराहट और उलझन के समय दब जाती हो लेकिन यह इच्छा रहती है, वह मनुष्य की निधि है और खतरा छँटने के फौरन बाद उभर आ सकती है।" आगे वे लिखते हैं, "....ऐसे प्रलोभन से एकदम पीठ फेरकर, ऐसे मानव अतीत की सच्चाई जानकर जिसकी छाया आज भी हम पर है, क्या हम साहस और सहयोग, प्रवीणता और कौशल, चतुराई और अनुकूलन, प्रेम और मानवीय संबंध जैसी भावनाओं प्रवृत्तियों के मूलबिंदु का पता लगा सकते हैं, जो हमारे आखेट के अतीत के बिना शायद असंभव होतीं," *हंटिंग हाइपोथिसिस* के मूल विचार से अब अधिकांश जीव विज्ञानी और नृत्तत्त्व शास्त्री सरोकार रखते हैं और मानते हैं कि सहयोग की भावना मनुष्य के मानस में जरूर गहरे पैठी हुई है। लेकिन उसी विरासत से हमारे अंदर कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ भी पैठ गई हैं जो उस संभावना को रोक देती हैं जिससे किसी अचानक बदलाव और पुनर्व्यवस्था से सहकारी साझा तंत्र बनाना सरल हो।

आदिम युग के मनुष्य का जीवन आधार शिकार ही था और ज्यादातर कुछ सौ लोगों के छोटे-छोटे झुंड में शिकार करता था। उस समय समूची धरती पर मनुष्य की कुल आबादी करीब दस लाख होने का अनुमान है। ये झुंड एक-दूसरे से अलग-अलग ही रहते और शिकार करते थे। दूसरे झुंडों से उनका साबका गाहे-बगाहे पड़ता था, खासकर जब औरतों के आदान-प्रदान के मौके आते थे। इससे कबीले में संख्या भी बढ़ती थी और दूसरे कबीलों से मित्रवत संबंध भी कायम होते थे। हालाँकि शिकार के इलाकों को लेकर संघर्ष भी हुए हो सकते हैं। मानव समूहों के लंबे एकाकी अस्तित्व से उनमें अलग दिखने के लिए एक हिंसक प्रवृत्ति भी घर कर गई होगी, खासकर जब दूसरे समूह के सदस्यों की शारीरिक बनावट या व्यवहारगत विशेषताएँ कुछ अलग तरह की हों। लिहाजा, कई अरब की आबादी वाली दुनिया में, जिसमें विभिन्न शारीरिक बनावटों, आदतों तथा मान्यताओं के लोग कुछ नजदीक रहने को मजबूर हों, मनुष्य की आपसी सहयोग की प्रवृत्ति पर विरोधी हिंसक प्रवृत्तियों का दबाव भी भारी है। इस चुनौती की बातें आज अधिक हो रही हैं, क्रोपोटकिन ने जब परस्पर सहयोग पुस्तक लिखी तब इनकी चर्चा आज से कम थी।

यह स्थिति अचानक नहीं आई है। नव प्रस्तर युग और कृषि व्यवस्था की शुरुआत होने पर मनुष्य की आबादी में अचानक वृद्धि हुई, शहरों और साम्राज्यों का विकास हुआ और बार-बार लड़ाइयाँ भी हुईं। इसके साथ-साथ आबादी का बड़े पैमाने पर एक-से दूसरी जगह आवागमन भी शुरू हुआ। आधुनिक युग में जीवन रक्षक दवाओं के विकास और उत्पादकता में भारी वृद्धि से जनसंख्या विस्फोट हुआ। आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था की एक विचित्रता यह है कि कुछ खास शहरी इलाकों में जनसंख्या का जमाव बढ़ जाता है और ग्रामीण इलाके खाली हो जाते हैं। कृषि में मशीनीकरण से लोगों की एक छोटी संख्या बड़े इलाकों में खेती कर लेती है। आधुनिक उद्योगों को भी अपनी गतिविधियों के लिए बड़ी संख्या में लोगों की जरूरत होती है। लेकिन उत्पादन की गतिविधियों का तंत्र विरासत पर आधारित है और इन गतिविधियों के लिए प्रेरक तत्त्व सहयोग नहीं बल्कि औद्योगिक-व्यावसायिक विरासत में साथी मजदूरों से आगे बढ़ने की इच्छा और लालच है। इस व्यवस्था में सहयोग और साथी भाव को दबाने की कोशिशें होती हैं जिसे क्रोपोटकिन ने मजदूर संघ बनाते समय अनुभव किया था। हर गतिविधि में योजना और अमल करने पर कुछ मुट्ठी भर प्रबंधकीय और तकनीकविद अभिजनों का नियंत्रण होता है, जिसमें सामान्य मजदूरों की भूमिका नहीं के बराबर होती है।

इन तथ्यों का जिक्र यह दर्शाने के लिए किया गया है कि मौजूदा औद्योगिक तंत्र के उत्पादन क्षेत्र में मनुष्य की सहयोग की स्वाभाविक प्रवृत्ति को पूरी तरह दबा दिया गया है।

क्रोपोटकिन कोई उदासीन अध्येता नहीं थे। उनके अध्ययन कुछ विशिष्ट

सामाजिक उद्देश्यों से प्रेरित थे। अपने अध्ययनों से वे इस मान्यता पर पहुँचे थे कि केंद्रीकृत अधिकारियों के नियंत्रण और हस्तक्षेप से मुक्त होने पर लोग स्वतः ही परस्पर सहयोग के आधार पर उत्पादन और सामाजिक जीवन को संगठित करने लगेंगे। इस नजरिए से मौजूदा विश्व में मानव संबंधों को इस कदर विकृत कर दिया गया है कि मौजूदा उत्पादन व्यवस्था जब तक बनी रहती है तब तक मनुष्य में सहयोग की भावना को उन्मुक्त होकर फलने-फूलने का मौका नहीं मिल सकता। मौजूदा व्यवस्था की बुनियाद ही ऐसी है कि वह विशाल मानव समुदाय के लिए जो समस्याएँ पैदा कर रही है, उसका समाधान वह नहीं कर सकती। आज की पूँजीवादी व्यवस्था की बुनियाद जिस टेक्नोक्रेटिक तंत्र पर आधारित है उसमें ऑटोमेशन, कंप्यूटर और रोबोट के जरिए मनुष्य के बदले मशीन की प्रधानता होती जाती है। कृषि-क्षेत्र में भी छोटी कास्त के बदले बड़े-बड़े फार्म और मशीनों के जरिए खेती पर जोर है। इसका भी मकसद कृषिकार्य में लगे अधिकांश लोगों को काम से वंचित कर देना है। स्वचालित कारखानों और मशीनी खेती के जरिए विश्व की कुल श्रम शक्ति के एक मामूली हिस्से की मदद से विश्व की समूची आबादी की जरूरतों को पूरा किया जा सकता है और बड़ी मात्रा में अतिरिक्त उत्पादन भी किया जा सकता है। यह व्यवस्था यह नहीं जानती, न जानने की परवाह करती है कि इस तरह विश्व के बेकार हुए अधिसंख्य लोगों को क्या हो। यह ऐसी विचित्र दुनिया है 'जहाँ धन बढ़ता है और आदमी घटता है।' विश्व के पैमाने पर एक छोटा समृद्ध, या अति समृद्ध तबका संगठित उद्योग-व्यापार पर काबिज है और उनके इर्द-गिर्द निर्धन लोग बिना काम, बिना जीविका के साधन, बिना रोटी, कपड़ा, मकान के जीने को मजबूर है।

लेकिन संगठित क्षेत्र भी दूसरी तरह की दुश्चिंताओं से ग्रस्त है। उसे नहीं मालूम कि वह अपने अतिरिक्त उत्पादों का क्या करे क्योंकि गरीब होती दुनिया में उसका बाजार भी सिकुड़ रहा है। (मार्क्स ने पूँजीवादी व्यवस्था के इस अनिवार्य रुझान को समझा था, लेकिन अब इसका असर खुलकर दिखने लगा है।) जब कोई नयी उत्पादन विधि जन्म लेती है—मसलन, मौजूदा सूचना-प्रौद्योगिकी और जीन इंजीनियरिंग की तकनीक—तो शुरुआती तेजी के कुछ ही समय बाद मंदी और बंदी की शिकार हो उठती है। इसी को वे मंदी की मार कहते हैं। मौजूदा संदर्भों में प्रासंगिक तथ्य यह है कि कृषि फार्म और कारखानों का नियंत्रण चाहे निजी हाथों में हो या सार्वजनिक क्षेत्र में, बेरोजगारी बेतहाशा बढ़ती जाएगी क्योंकि उत्पादन का संबंध उत्पादकों या संभावित उपभोक्ताओं की जरूरत से नहीं है। यह अत्यधिक मुनाफे की इच्छा से प्रेरित है और जोर बिना खरीददारों की सोचे उत्पादन बढ़ाते जाने पर है। उसे खरीददारों की तलाश में विज्ञापन के जरिए कृत्रिम जरूरतें पैदा करनी होती हैं, लेकिन उत्पादन और वितरण के समूचे चक्र पर चूंकि दुनिया की आबादी के छोटे-से वर्ग का नियंत्रण है इसलिए ये कोशिशें भी अनिवार्य रूप से अंधी गली में ही पहुँचती हैं। इसके अलावा

मजदूरों को भी काम में मामूली आनंद ही आता है। उन्हें तो उत्पादन मशीन के एक असंवेदनशील हिस्से में तब्दील कर दिया गया है।

मौजूदा औद्योगिक पूँजीवादी व्यवस्था का सबसे अनोखा पहलू यह है कि इसने बेरोजगारी की समस्या का ईजाद किया है। अतीत में बँधुआ मजदूरी और उत्पीड़न जैसे शोषण के विविध रूप तो रहे हैं मगर पूँजीवादी व्यवस्था में जबरन बेरोजगारी या निठल्लेपन की समस्या पैदा हुई है। समाजवादियों द्वारा सुझाए गए पुराने समाधान, यानी उत्पादन व्यवस्था का सामाजीकरण या सरकारीकरण से समस्या का निराकरण संभव नहीं हुआ क्योंकि नयी औद्योगिक व्यवस्था की मूल प्रेरणा ही आदमी की जगह मशीन को स्थापित करना है।

यहाँ मध्ययुगीन यूरोप में श्रम के सहकारी स्वरूपों के बारे में समृद्ध जानकारियाँ, जिसकी ओर क्रोपोटकिन ध्यान खींचते हैं, उत्पादन की शोषणमुक्त नयी व्यवस्था की स्थापना में काम की हो सकती है। मौजूदा औद्योगिक पूँजीवाद की पैदा की हुई समस्याओं में कुछ इस प्रकार हैं—1. बहुराष्ट्रीय कंपनियों की मिल्कियत वाले भारी पूँजी वाले बड़े उद्योगों और विशालकाय कृषि फार्मों में उत्पादन के केंद्रीकरण से दुनिया के एक बड़े हिस्से को बेकार कर देना, यह बेकार हुआ हिस्सा इस व्यवस्था का बतौर खरीददार अभिन्न अंग भी नहीं है क्योंकि उसके पास क्रयशक्ति नहीं है और क्रयशक्ति इसलिए नहीं है कि न तो वह उत्पादक है, न रोजगारशुदा है। परंपरागत सामान का इस अर्थव्यवस्था के बुनियादी तंत्र में आदान-प्रदान इतना गैर-फायदेमंद है कि ये गैर-पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाएँ जल्दी ही दिवालिया हो जाती हैं। 2. जैसा कि मार्क्स ने काफी पहले कहा था, मजदूर उत्पादन प्रक्रिया से अलग-थलग हो जाएँगे, अब यह अलगाव अधिक गंभीर हो गया है। 3. अधिकतम मुनाफे की लालच में पूँजीवादी मजदूरों की छँटनी और उत्पादन बढ़ाकर कीमतें घटाते जाते हैं। लिहाजा, उत्पादन बेहिसाब बढ़ जाता है और जमावड़ा शुरू होता है। नतीजतन, लगातार मंदी बनी रहती है और उत्पादन ठप्प पड़ जाता है। यह नया संकट पहले के संकटों से ज्यादा गंभीर होना तय है क्योंकि ग्लोबीकरण के चलते जोड़-तोड़ और व्यवस्था में नयी जान फूँकने के अवसर सिकुड़ते जा रहे हैं। इसके मूल क्षेत्र से बाहर के इलाके लगातार उथल-पुथल और जन अशांति की स्थिति में रहते हैं क्योंकि जीवन की कठिनाइयाँ गहराने के साथ परंपरागत ईर्ष्या-द्वेष और दुश्मनियाँ उभर आती हैं। 4. एक आयामी संस्कृति और उत्पादन की विशिष्टता पर जोर के कारण व्यवस्था से पूरी तरह जुड़े इलाकों का भविष्य भी अनिश्चित लगने लगता है क्योंकि उत्पादन की लागत या माँग में मामूली हेरफेर से भी बड़ी संख्या में लोगों के उद्यम बेमानी हो जाते हैं। 5. काल्पनिक बाजार के मद्देनजर उत्पादन में बेपनाह वृद्धि से ऊर्जा और दूसरे संसाधनों का बेहिसाब खर्च किया जाता है जिससे धरती पर जीवन का संतुलन और पर्यावरण खतरे में आ गया है।

मौजूदा आर्थिक व्यवस्था और तकनीक में इन समस्याओं का कोई समाधान नहीं है। मध्ययुगीन व्यवस्थाओं में उत्पादन समाज की निश्चित जरूरतों को ध्यान में रख कर किया जाता था चाहे किसी किले का निर्माण हो या कैथेडरल का अथवा लोगों की खपत के लिए सामान का उत्पादन। क्रोपोटकिन ने काउंसिल ऑफ फ्लोरेंस के शब्दों को उद्धृत किया है कि, "कोई काम कम्यून शुरू न करे बल्कि वही काम करे जो कम्यून के महा हृदय में, जो सभी नागरिकों के हृदय का समुच्चय है, एक साझा इच्छा से प्रेरित हो।" और इस पर उनकी टिप्पणी है—"...और यह भावना सभी सामुदायिक उपयोगिता के काम में परिलक्षित होती है, चाहे नहरों का निर्माण हो, या टेरेस, अंगूर के बगीचे, फ्लोरेंस के आसपास बगीचों के फल के मामले में हो या लोंबार्डी के मैदानों के बीच सिंचाई के लिए बनाई गई नहरों या बंदरगाहों या जेनेवा की वास्तुकला या किसी भी काम में जिसकी लगभग हर शहर में साझा जरूरत महसूस हो रही हो।"

काम के कलापक्ष पर वे लिखते हैं, "मध्ययुगीन वास्तुकला की भव्यता सिर्फ इसलिए नहीं थी कि वह हस्तकला का स्वाभाविक विकास थी, न इसलिए थी कि हर भवन हर मेहराब या पच्चीकारी उन लोगों ने की थी जिनके अनुभवी हाथ पत्थरों, लोहे, तांबे या लकड़ी वगैरह को अपने ढाँचे में ढालने में सिद्धहस्त थे; न इसलिए थी कि हर स्मारक सामुदायिक अनुभव के संपुंजन से बना था—बल्कि भव्यता इसलिए थी कि उनका जन्म भव्य विचारों से हुआ था। यूनानी कला की तरह यह नगरों की भाईचारा और एकता की अवधारणा से निकली थी।" शायद पर्यावरण संतुलन, समता, उदारता और काम में रचनात्मक सुख, जो मौजूदा अर्थ तंत्र से गायब हो गया है, को फिर से छोटे समुदायों में छोटे स्तर पर सहकारिता पर आधारित जीवन के पुनस्संगठन से ही पाया जा सकता है, जिसकी चर्चा, क्रोपोटकिन बड़े प्यार से करते हैं।

इन मध्ययुगीन समुदायों के संगठन के आधार पर हमारी कुछ अपनी औद्योगिक और पेशेवर जातियों के संगठन और स्थायित्व पर कुछ रोशनी पड़ सकती है। वर्ण व्यवस्था तो वर्गीकरण, असमानता और पदानुक्रम पर आधारित रही है मगर औद्योगिक और पेशेवर जातियाँ अपने स्व-नियंत्रित, स्वचालित शिल्प संगठनों पर आधारित रही हैं और सभी के अपने रीति-रिवाज और पंचायतें रही हैं। ऐसी जातियों में कुम्हार, लोहार, बढ़ई, बुनकर, नाई वगैरह हैं। ये अपने परंपरागत शिल्प में इतने कुशल हैं कि पूरी तरह बदली हुई आधुनिक दुनिया में भी उनकी कला जीवित है। इन जातियों का कोई धार्मिक आधार नहीं है और इसीलिए हमारे यहाँ जुलाहा (बुनकर) जैसी जातियाँ भी हैं जो मुख्य रूप से मुसलमान हैं, मान्यता यह है कि अजंता-एलोरा जैसी कालजयी कलाकृतियाँ ऐसे कलाकारों के समूह का प्रयास हैं जो कई पीढ़ियों तक इसे अंजाम देने में जुटे रहे हैं।

मध्ययुगीन नगर-समाजों का काम के साथ रचनात्मक सुख का रिश्ता जोड़ने की महान उपलब्धि कई दूसरे चिंतकों को भी प्रभावित करती रही है। जॉन रस्किन उनसे काफी प्रभावित थे और उनके अध्ययनों के कथित ब्रितानी समाजवादी विलियम मोरिस भी प्रभावित हुए जो खुद एक प्रसिद्ध कवि और कलाकार थे। इस तरह वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि कला काम में आनंद की अनुभूति की अभिव्यक्ति है। रस्किन की पुस्तक 'आन टु दिस लास्ट' से ही महात्मा गाँधी मानव श्रम की सुंदरता से प्रभावित हुए थे। उनके लिए काम प्रार्थना का एक रूप बन गया और अपने इसी नजरिए के कारण वे वर्ण पदानुक्रम में सबसे नीचे के श्रमिकों को ईश्वर का सच्चा सपूत 'हरिजन' कह पाए।

यह साफ होता जा रहा है कि मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था प्राकृतिक संसाधनों के भारी उपयोग और दुरुपयोग से विश्व को मौत के मुँह में धकेल रही है। उत्पादन और वितरण के मौजूदा पैमाने में इस विनाश का कोई विकल्प नजर नहीं आता। क्रोपोटकिन की पुस्तक प्रकाशन के सौ साल बाद भी इसीलिए प्रासंगिक हो उठी है क्योंकि वह इस तथ्य पर जोर देती है कि मनुष्य का मूल स्वभाव अनिवार्य रूप से सहयोग, सहकार का है जो फिलहाल प्रतिस्पर्धा और आत्मघाती हिंसक होड़ की संस्कृति से दबा हुआ है। इसका अर्थ है कि मनुष्य में अच्छाई का तत्त्व बढ़ाना संभव है। निर्भरता के इस दौर में, जब लोग प्रतिस्पर्धी विश्व व्यवस्था के प्रति घुटने टेक चुके हों, उन महान कृतियों की ओर ध्यान खींचने से नयी आशा पैदा हो सकती है जिसे मनुष्य ने परस्पर सहयोग की भावना से बनाया था। जाहिर है, मौजूदा व्यवस्था की विशालकाय पेचीदगियों और केंद्रीकरण के दौर में, जब अमेरिका जैसे ताकतवर केंद्रीकृत राज्यों के साए में ताकतवर बहुराष्ट्रीय कंपनियों का दबदबा हो, परिवर्तन काफी कष्टदायी हो सकता है। लेकिन अजेय लगने वाली कम्युनिस्ट व्यवस्थाओं के धराशायी होने से पता चलता है कि मौजूदा विश्व व्यवस्था भी अचानक एक दिन धराशायी हो सकती है क्योंकि इसके मर्म भाग में भयानक असमानता की सड़ाँध है। वैसे भी, इतिहास के कितने अँधियारे काल में मनुष्य बचा रहा है क्योंकि उसकी आशा जीवित रही है। यह पुस्तक ऐसी ही आशा के संचार का संसाधन बन सकती है।

(ग)

अलगाववाद की समस्या

लोकतंत्र का सिकुड़न और अलगाववाद

कालूचक नरसंहार के बाद 21 मई से 23 मई का वाजपेयी का दो दिन का जम्मू-कश्मीर का दौरा किसी प्रधानमंत्री की निरर्थक राजनीतिक पहल का बेमिसाल नमूना है। अग्रिम मोर्चे के जवानों के सामने निर्णायक युद्ध की तैयारी और आत्म-बलिदान का आह्वान उन्होंने जिस तरह किया उससे ऐसा लगा कि युद्ध अब होने ही वाला है। ऐसी बातें किसी देश का नेता तभी करता है जब देश युद्ध के कगार पर हो या किसी महान संकट का सामना कर रहा हो, जैसा द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान डंकिर्क की भयंकर पराजय के बाद चर्चिल का 'ब्लड ऐंड टीयर' वाला भाषण था, जिसने पूरे राष्ट्र का तेवर बदल दिया। लेकिन इस आह्वान के दो दिन बाद ही वाजपेयी ने पत्रकारों से कह दिया कि अब बादल छँट गए हैं। इस बीच क्या हो गया जिससे प्रधानमंत्री ने अपना तेवर अचानक बदल दिया? इसका एक ही कारण दिखाई देता है—यह कि जवानों के समक्ष दिए गए उनके भाषण के पीछे कोई गंभीर आशय नहीं था। यह महज एक नाटक था जो इस उम्मीद से मंचित था कि शायद इसका कोई प्रभाव बाहरी दुनिया पर पड़े। लेकिन जब वाजपेयी ने देख लिया कि न कश्मीर में और न दुनिया के दूसरे देशों में लोगों ने इसे गंभीरता से लिया तो धीरे से इस दृश्य पर पटाक्षेप कर दिया गया।

दुनिया पर वाजपेयी के भाषण का इतना ही असर पड़ा कि अमरीका और रूस ने फिर वही पुरानी बात दुहराई कि पाकिस्तान को सीमा पार के आतंक पर रोक लगानी चाहिए। इसके जवाब में पाकिस्तान के सैनिक शासक परवेज़ मुशर्रफ ने 27 मई की रात देश को संबोधित करते हुए साफ तौर से कह दिया कि भारत में जो आतंकवादी हमले हो रहे हैं उसमें पाकिस्तान का कोई हाथ नहीं है। साथ ही यह भी कहा कि भारत में कश्मीर को लेकर जो कुछ हो रहा है, वह कश्मीरियों की अपनी आजादी की लड़ाई का हिस्सा है जिसे पाकिस्तान का पूरा समर्थन है। मुशर्रफ ने यह धमकी भी दे दी कि अगर भारत ने नियंत्रण रेखा के पार कोई हमला किया तो पाकिस्तान पूरी ताकत लगाकर इसका मुँहतोड़ जवाब देगा। इस संकल्प की पृष्ठभूमि के बतौर पाकिस्तान ने इसके पहले दो मिसाइलों का परीक्षण भी किया।

इस भाषण में भारतीय फौज को स्पष्ट रूप से दुश्मन की फौज कहा गया। इस सबसे स्पष्ट है कि वाजपेयी के नाटक से न तो दुनिया के दूसरे देशों पर कोई प्रभाव पड़ा, न पाकिस्तान पर। भारत द्वारा बातचीत से समस्या का हल ढूँढ़ने से इनकार करने से एक गतिरोध की स्थिति जरूर पैदा हो गई है जिसे तोड़ने का रास्ता एक ऐसा युद्ध हो सकता है जिसके भयंकर परिणामों की आज हम कल्पना भी नहीं कर सकते। आधुनिक युद्धों में, जिसमें परमाणु बमों के इस्तेमाल की भी आशंका हो, योद्धाओं की वीरता की गाथाओं की कोई भूमिका नहीं होती। आधुनिक युद्ध पूरी तरह यांत्रिक, भाव निरपेक्ष और अमानवीय होते हैं।

लेकिन ऐसे गतिरोध का शिकार सिर्फ वाजपेयी ही नहीं हैं। अमरीकी राष्ट्रपति बुश भी 'वैश्विक आतंकवाद' को मिटाने के धर्मयुद्ध की घोषणा कर कुछ ऐसे ही गतिरोध में फँसे हुए हैं। मई के अंतिम सप्ताह में अपनी यूरोप यात्रा में बुश ने अटलांटिक संधि के देशों और रूस को अपने अभियान में जोड़ने की कोशिश की। 27 मई को फ्रांस को जर्मनी से मुक्त कराने के क्रम में मारे गए अमरीकी और फ्रांसीसी सैनिकों को श्रद्धांजलि देते हुए बुश ने उस युद्ध की तुलना अपने आतंकवाद विरोधी अभियान से कर दी। लेकिन यूरोप के देश बुश के इस अभियान में शामिल होने में कोई उत्साह नहीं दिखा रहे हैं। अमरीका के अकेले ही, बिना दूसरों की राय लिए, सभी मामलों में निर्णय लेने की आदत से अटलांटिक संधि के देश नाराज हैं, विशेष रूप से इसलिए कि अमरीका न सिर्फ सद्दाम हुसैन को अपदस्थ करने के लिए इराक के खिलाफ युद्ध की बात भी इस अभियान से जोड़ता है, बल्कि ईरान से भी दुश्मनी की घोषणा करता रहा है जबकि यूरोपीय देश ईरान से अपना रिश्ता सुधारने में लगे हैं। यह बात दीगर है कि आज अमरीका दुनिया का सबसे शक्तिशाली देश है जो अपने बूते भी किसी देश पर हमला कर उसे तबाह कर सकता है। इसके अलावा उसका ज़ेहाद उसके आर्थिक हितों की रक्षा यानी पश्चिम एशिया में तेल क्षेत्र पर अपनी पकड़ मजबूत बनाए रखने की दृष्टि से हो रहा है। इसके विपरीत भारत के शासक जानते हैं कि भारत किसी लंबे और निर्णायक युद्ध को चलाने में अक्षम है और इसी से बीच-बीच में विश्व समुदाय से उबारने की दयनीय अपील भी करते रहते हैं।

अपनी स्थितियों की विभिन्नताओं के बावजूद आतंकवाद को समझने की अपनी अक्षमता में बुश और अटल बिहारी वाजपेयी सहयात्री हैं। लेकिन अकेले वाजपेयी को दोष देना अन्याय होगा। कुछ अंधापन स्थितिजन्य होता है। सभी देशों के अपने-अपने और अलग-अलग आतंकवादी हैं जिन्हें सभी अपने स्वार्थ के झरोखों से देखते हैं। अमरीका इन देशों को अपने आतंकवादियों से लड़ने में वहीं तक सहायता देने को तैयार है जहाँ तक यह अमरीका के लिए सुविधाजनक हो। स्वयं भारत के मामले में अमरीका ने कभी यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा कि वह पाकिस्तान की इस

मान्यता को अस्वीकार करता है कि भारत के आतंकवादी कश्मीरी स्वतंत्रता सैनिक हैं। इसलिए अमरीका भारत में होनेवाली आतंकवादी हरकतों के खिलाफ उसी हद तक कोई पहल करने के लिए तैयार है जिस हद तक यह स्पष्ट रूप से साबित किया जा सके कि भारत की आतंकवादी हरकतों के लिए पाकिस्तान से भेजे गए आतंकवादी जिम्मेदार हैं। पाकिस्तान इस बात से इनकार करता है कि इन हरकतों के पीछे उसका हाथ है और कहता है कि यह भारत का आंतरिक मामला है।

इस बात की सत्यता सिद्ध करने का कोई उपाय भारत के पास नहीं है कि यहाँ होनेवाली सभी आतंकवादी वारदातों के लिए पाकिस्तान जिम्मेदार है। फिर भी अज्ञानवश या जानबूझकर भारत के शासक यह कबूल करने को तैयार नहीं हैं कि कश्मीर से जुड़े आतंकवाद का संबंध बुनियादी रूप से वहाँ के लोगों में फैले व्यापक असंतोष से है और अंततोगत्वा उन्हें उस असंतोष को दूर करने की पहल करनी पड़ेगी। कम-से-कम भारत में इस हकीकत को समझने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए क्योंकि भारत में मामला सिर्फ कश्मीर से संबंधित आतंकवाद का नहीं है। नागालैंड, असम, पश्चिम बंगाल सभी में अलगाववादी आतंक की घटनाएँ होती हैं जिनका पाकिस्तान से कुछ लेना-देना नहीं है। इसके अलावा देश के कई हिस्सों में नक्सलियों की आतंकवादी हरकतें चल रही हैं। सभी के अलग-अलग स्थानीय कारण हैं। उनके निदान भी अलग-अलग होंगे। इस समस्या का कोई स्थायी सैनिक समाधान नहीं हो सकता। इनमें प्रत्येक के अपने-अपने ढंग के जटिल कारण हैं। इन्हें हेलीकॉप्टर गनशिप और बमवर्षक विमानों से खत्म नहीं किया जा सकता। जब हम यह बुनियादी समझ बनाएँगे तभी इस समस्या के समाधान की तरफ कोई कदम बढ़ा सकते हैं। इसमें बहुत-से पूर्वग्रहों को, जिसमें महान होने या शक्तिशाली होने का वहम भी शामिल है; छोड़ना पड़ेगा।

आज जिसे आतंकवाद कहा जाता है वह कोई नयी चीज नहीं है। पहले भी दुनिया में आतंकवादी आंदोलन होते रहे हैं। रूस के नैरोदूनिक आंदोलन के इर्दगिर्द तो अनेक दार्शनिक विवाद अस्तित्व में आए। उत्तरी आयरलैंड का आईआरए अपनी आतंकवादी हरकतों से लगभग आधी शताब्दी तक ब्रिटेन का सरदर्द बना रहा और हाल के समझौते से हथियार डालने की ओर बढ़ा है। विध्वंसक तकनीकों के विकास से इसकी संहार की शक्ति जरूर बढ़ी है और आत्मघाती हमलों के रुझान ने इसमें एक नया और भयानक पहलू जोड़ दिया है। लेकिन आत्मघात निराशा की आत्यंतिक अभिव्यक्ति है इसलिए इसकी त्रासदी को समझने की चुनौती भी हमारे सामने है। वैसे आतंकवाद को सदा विपरीत नजरियों से देखा जाता रहा है। प्रायः व्यवस्था से या अपनी सामाजिक स्थिति से त्रस्त लोगों को ये आतंकवादी क्रांतिकारी दिखाई देते

थे जबकि शासकों की दृष्टि में वे अपराधी थे। भारत के हमारे अपने क्रांतिकारी खुदीराम बोस या भगत सिंह भी अंग्रेजों की दृष्टि में आतंकवादी (टेररिस्ट) थे जबकि देश उन्हें सदा क्रांतिकारी मानता रहा। इसलिए आतंकवाद के संबंध में हमें अपने परिप्रेक्ष्य को बदलने और यह समझने की जरूरत है कि आतंकवादियों को क्यों एक बड़े समुदाय का समर्थन मिलता है जबकि उनकी गतिविधियाँ प्रायः ऐसी होती हैं जिन्हें कानूनी दृष्टि से अपराध और मानवीय दृष्टि से चरम अमानवीयता कहा जा सकता है।

थोड़ी गंभीरता से विचार करने से लगेगा कि आतंकवादी आंदोलन सदा सामाजिक संप्रेषण में किसी तरह के अवरोध का ही परिणाम होता है। यह संप्रेषणहीनता मानव समूहों के पास-पड़ोस में रहते हुए भी वर्ग, वर्ण, मूल, मज़हब, भाषा और सामाजिक स्थितियों की भिन्नता से पैदा होती है। एक स्थूल रूप में यह शासक और शासितों के बीच की संप्रेषणहीनता का परिणाम होता है जहाँ लोकतंत्र का अभाव है वहाँ तो यह संप्रेषणहीनता होगी ही, क्योंकि शासितों को अपनी इच्छा जताने का कोई माध्यम उपलब्ध नहीं होता। लेकिन लोकतंत्र में भी, अगर बहुमत और अल्पमत की स्थितियों और मूल आदि की भिन्नता से अल्पसंख्यक समूहों की बातें व्यवस्था तक पहुँच उसे प्रभावित नहीं कर पातीं, यह संप्रेषणहीनता बनी रहती है।

अगर बहुसंख्यक समूह बाकी समूहों की भावनाओं के प्रति संवेदनहीन है तो पृथकता का भाव पनपता है। अगर समाज इतना खुला न हो कि पार्थक्य को जाहिर करने का मौका अल्पसंख्यक समुदाय को मिल सके, या इस भाव को दबाने का प्रयास बहुसंख्यक लोगों द्वारा किया जाए, तब अलगाव को प्रभावी बनाने के लिए राज्य की बृहद हिंसा के विरोध में पृथकतावादियों की कमजोर (आतंकवादी) हिंसा का प्रादुर्भाव होता है। बहुत बार ऐसी हिंसा खुद हिंसा करनेवाले समूहों के अपने ही हितों के विरुद्ध पड़ती है। लेकिन इसके लिए दोषी व्यवस्था की संवादहीनता ही होती है।

कश्मीर इसका उदाहरण है। भारत में इसके विलय के प्रारंभिक दिनों को छोड़ वहाँ लगातार भारत से दुराव बढ़ता गया है और आज यह स्थिति है कि शासन के साथ वहाँ के आम लोगों का संवादसूत्र लगभग पूरी तरह भंग हो चुका है। इसी पृष्ठभूमि में वहाँ अलगाववादी हिंसा बढ़ी जो अब आतंकवाद में बदल गई है। कोई संदेह नहीं कि पाकिस्तान और उससे बाहर के इस्लामी कट्टरपंथी इस अलगाववाद को हर तरह की सहायता देते रहे हैं और अलगाववाद को धार्मिक उन्माद के साथ जोड़ने में सफल हुए हैं। लेकिन अंततः यह मामला कश्मीर के आम लोगों की भावना का है और कश्मीर समस्या के किसी भी समाधान का केंद्रीय बिंदु वहाँ के लोगों की इच्छा का सम्मान हो सकता है। संभव है यह समाधान हमारे लिए काफी दुखद साबित हो और अंततः कश्मीर के लोगों के लिए भी आत्मघाती। क्योंकि जो व्यवस्था

धार्मिक कट्टरपंथ के आधार पर बनेगी, लगभग तालिबान की तर्ज पर चलेगी। लेकिन हम इस आत्मघात को रोकने में उतने ही अक्षम बन चुके हैं जितने आत्मघाती हमलों को रोकने में। स्थिति को लाइलाज रूप से बिगाड़ देने के बाद हमें बहुत संतोषजनक नतीजे की उम्मीद नहीं करनी चाहिए।

लोकतंत्र महज शासन हथियाने की एक खास तरह की पद्धति नहीं है जिसमें जात-पाँत, मज़हब-मूल आदि की भावना का इस्तेमाल कर किसी तरह शासन पर कब्जा जमा लिया जाए। इसकी आत्मा इसमें है कि लोकतंत्र के भीतर का हर शासित समूह यह महसूस करे कि शासन में उसकी भावनाओं का भी कहीं प्रतिनिधित्व है। बीसवीं शताब्दी के द्वितीय चतुर्थ में इस भावना की अनदेखी से ही लोकतंत्र का एक रूप उभर रहा था जिसे 'टोटैलिटेरियन डेमोक्रैसी' (सर्वसत्तावादी लोकतंत्र) का नाम दिया जाने लगा था। इसमें बहुमत को हर क्षेत्र में अपनी इच्छा लादने की छूट थी। जर्मनी में हिटलर भी तो सत्ता में लोकतंत्र के माध्यम से ही आया था। और अपने प्रारंभिक नस्लवादी काल में गुलामी की व्यवस्था को कायम रखते हुए भी संयुक्त राज्य अमरीका लोकतंत्र ही था। दरअसल लोकतंत्र की आत्मा छोटे-से-छोटे समूहों और इसमें रहनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के अधिकारों के प्रति सम्मान में बसती है। आज हम इस मूल उद्देश्य की स्थापना से ही अपने संकट से उबर सकते हैं। पाकिस्तान से युद्ध और उससे उपजी तबाही के बाद भी हमारी आंतरिक समस्याएँ आज जैसी ही बरकरार रहेंगी, जब तक हम लोकतंत्र विरोधी आंतरिक भावनाओं के खिलाफ वैचारिक युद्ध नहीं जीतते।

कश्मीर : एक नया अध्याय

इतिहास का गतिरोध कभी-कभी कुछ अप्रत्याशित घटनाओं से टूटता है जिनसे आगे के लिए रास्ता निकल आता है। अभी कश्मीर के चुनावों के नतीजे वहाँ के गतिरोध को तोड़ने में कुछ वैसी ही भूमिका अदा कर सकते हैं बशर्ते भारत सरकार और कश्मीर में सक्रिय आंदोलनों के नेता नयी संभावनाओं को पहचान कर सही कदम उठाएँ। आतंकवादी हमलों से प्रस्तुत मौत की छाया में जिस साहस के साथ कश्मीर के लोगों ने चुनाव प्रक्रिया में शिरकत की उससे साफ जाहिर होता है कि लोग हिंसा-प्रतिहिंसा के अंतहीन दौर से ऊब चुके हैं और अपनी समस्याओं का निराकरण लोकतांत्रिक मतदान पद्धति से करना चाहते हैं। 46 प्रतिशत मतदान का औसत भारत के खुले माहौल में होने वाले मतदान के औसत से थोड़ा ही कम है। यह कश्मीरियों की अदम्य इच्छा और साहस का सबूत है। जहाँ भारत के बिहार जैसे राज्य में मुट्ठीभर बूथ लुटेरे मतदाताओं को धमका कर एकतरफा वोट डाल देते हैं वहाँ लगातार होने वाले बमों के धमाकों और गोलियों की बौछार के साए में कश्मीरी मतदाताओं ने, जिसमें बड़ी संख्या महिलाओं की थी, जिस तरह जमकर अपने मतदान के अधिकार का प्रयोग किया उससे उन्होंने दुनियाभर के लोगों का आदर अर्जित किया है। लेकिन मताधिकार के प्रति प्रतिबद्धता से उनकी राजनीतिक प्रतिबद्धता के बारे में जल्दबाजी में कोई नतीजा निकालना भ्रामक हो सकता है। मसलन यह नतीजा निकालना कि मतदान में हिस्सा लेकर कश्मीरियों ने भारत के साथ बने रहने का निर्णय दिया है—जैसा न सिर्फ भाजपाई नेताओं के बयानों से बल्कि दूसरे राजनीतिक टीकाकारों द्वारा व्यक्त विचारों से भी जाहिर होता है। तत्काल निश्चित रूप से यही कहा जा सकता है कि अभी कश्मीर के लोग सत्ता परिवर्तन चाहते हैं। फिलहाल इससे अधिक अर्थ निकालना वहाँ की स्थिति की जटिलताओं को नजरअंदाज करना होगा जिससे खतरनाक आत्मतुष्टि की स्थिति बन सकती है।

यह बात धीरे-धीरे कश्मीर के बहुसंख्य लोग समझने लगे हैं कि भारत सरकार की सशक्त फौज को आतंकवादी हमलों से खदेड़ा नहीं जा सकता। वे यह भी समझ चुके हैं कि पाकिस्तान की फौज भी इतनी ताकतवर नहीं कि भारतीय फौज को

कश्मीर से खदेड़ दे। पाकिस्तान इतना ही कर सकता है कि चरमपंथियों को सहायता देकर कश्मीर में लगातार अस्थिरता का माहौल बनाए रखें। लेकिन इससे पैदा स्थायी अव्यवस्था का खमियाजा कश्मीरी अवाम को ही भुगतना पड़ता है। शीतयुद्ध के काल में अमेरिका का रुझान पाकिस्तान के पक्ष में था और ब्रिटेन, जो पाकिस्तान का जनक था, साम्राज्यवादी अतीत के मोह से कभी मुक्त नहीं हुआ और इसलिए विभाजन कर शासन करने की नीति के अवशेष के रूप में कश्मीर की देगची में उबाल का स्वागत ही करता था। इससे अलगाववाद के समर्थकों को यह संभावना लगती थी कि इन शक्तियों के दबाव में भारत चरमपंथियों की माँगों को मानने को मजबूर हो जाएगा। वे इस बात को नजरअंदाज करते थे कि भारत की सरकार और राजनीतिक पार्टियाँ कश्मीर मसले को भावनात्मक मुद्दा बना स्वयं इसका कैदी बन गई हैं, और पैर पीछे हटाने में मुश्किलों का सामना करती हैं। अब अमेरिका के 'वैश्विक आतंकवाद विरोधी' और मुसलमान विरोधी रवैये से यह आशा खत्म हो गई है। अतः चरमपंथियों के एक छोटे समूह को छोड़ जिसका आधार कश्मीर घाटी के श्रीनगर जैसे शहरी क्षेत्रों में अब भी बना हुआ है, आम कश्मीरी आतंकवादी हरकतों की सफलता से नाउम्मीद हो गया है। इसके अलावा पिछले वर्षों में चरमपंथियों के हमले और फौज तथा पुलिस की जवाबी कार्रवाइयों की ज्यादतियों दोनों का खमियाजा आम नागरिकों को ही भुगतना होता था। सुरक्षा बलों के जवान और चरमपंथी नौजवान दोनों ही की मौत कश्मीरी माताओं और पत्नियों को ही बेपनाह करती रही है। कश्मीर के इन चुनावों में औरतों की भारी भागीदारी को वर्तमान हताशा से निकलने के प्रयास के रूप में भी देखा जा सकता है।

वे कश्मीरी जो भारत से अलग होना चाहते हैं यह समझ गए हैं कि 'विश्व समुदाय' के वर्तमान मूड के रहते निकट भविष्य में उनकी इच्छा पूरी नहीं होगी। ऐसे में आतंकवादी गतिविधियों से पाकिस्तान को भले ही संतोष हो कश्मीरियों की स्थिति दिनोंदिन खराब ही होगी। उलटा चुनाव के बहिष्कार से वैसे तत्त्वों की पकड़ सरकार पर बनी रहेगी जो कश्मीर की अवाम की समस्याओं के प्रति संवदेनहीन रहे हैं। इसलिए बड़ी संख्या में ऐसे लोगों ने भी चुनाव में हिस्सा लिया जो पिछले दिनों चरमपंथियों से सहानुभूति रखते थे। उनका एक मकसद साफ था जो चुनाव के नतीजों से जाहिर होता है—नेशनल कान्फ्रेंस को सत्ता से हटाना।

यह चुनावी प्रक्रिया अगर मजबूत और विश्वसनीय बनती है तो इससे कश्मीर के भविष्य संबंधी विवाद के शांतिपूर्ण हल का रास्ता भी निकल सकता है। दुनिया के कई उदाहरण हैं जहाँ अपनी अलग राष्ट्रीयता का दावा करने वाले समूह चुनावों के माध्यम से किसी राष्ट्र से अलग होने के लक्ष्य को हासिल करने का प्रयास करते रहे हैं। दरअसल इस मार्ग को छोड़ कोई दूसरा विश्वसनीय मार्ग है भी नहीं जिससे यह जाना जा सके कि अलगाववादी माँग रखने वाले समूहों के साथ जनमत है कि

नहीं। यह सवाल हुर्रियत नेताओं के सामने उठाया जाता रहा है और इसका कोई समाधानकारी उत्तर उनके पास नहीं है। बम एवं बंदूक का सहारा और शहादत की तैयारी यह सिद्ध नहीं कर देती कि इस रास्ते को अपनाने वाले लोगों के साथ जनमत भी है। जनता के प्रतिनिधित्व का फैसला तो किसी निष्पक्ष चुनाव के माध्यम से ही हो सकता है। इसमें संदेह नहीं कि इस बार कश्मीर का चुनाव भारत में दूसरी जगह होने वाले चुनावों के हिसाब से काफी निष्पक्ष था। इसमें अगर बाधा आई तो चरमपंथियों की हरकतों से जिससे सरकार को अनावश्यक पैमाने पर शक्ति प्रदर्शन करना पड़ा जिसके साथ कुछ ज्यादतियाँ भी जुड़ जाती हैं। अगर ऐसे निष्पक्ष चुनाव कश्मीर की राजनीति का हिस्सा बन जाते हैं तो वे समूह भी जो भारत से अलग होना चाहते हैं इसके माध्यम से अपनी बात रख सकते हैं। यह जरूर है कि भारत की सरकार को भी लोकतंत्र की इस मूलभूत अवधारणा को कबूल करना होगा कि राष्ट्र की किसी ऐसी इकाई के नागरिकों को जिसकी एक अलग पहचान बनी हुई है अलग होने के विचार के प्रचार का भी अधिकार होगा। लोकतंत्र में इस बुनियादी बात को तो कबूल करना ही होगा कि मनुष्यों के समूह पत्थर या काठ के टुकड़े नहीं जिन्हें उनकी मर्जी के खिलाफ कहीं से हटाया या जोड़ा जा सके। यह दृष्टि मनुष्य की गरिमा को नकारना है और संसारभर में मानवाधिकारों का हनन इसी दृष्टि के चलते होता रहा है। इस संदर्भ में 'राष्ट्रीय अखंडता के साथ कोई समझौता नहीं हो सकता', या 'कश्मीर भारत का अभिन्न अंग है' जैसी रटी रटाई बातों को दुहराने का कोई अर्थ नहीं है क्योंकि हम मानें या न मानें कश्मीर की आबादी का एक हिस्सा और दुनिया के दूसरे देशों के लोग इसे एक विवाद का मुद्दा मान रहे हैं। अतः इसका कोई ऐसा हल ढूँढ़ना ही होगा जो कश्मीरियों को समाधानकारी लगे। अपनी समझ में अगर हम ऐसी लोच नहीं लाएँगे तो नयी समस्याओं को जन्म देते रहेंगे।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से राष्ट्रीय आजादी की माँग के साथ-साथ ही उपराष्ट्रीयता की भावना में भी उभार आया है। इसके फलस्वरूप दुनिया के अनेक भागों में कई नये राष्ट्र अस्तित्व में आए हैं। सोवियत संघ के विघटन से लगभग एक दर्जन नये राष्ट्र अस्तित्व में आ गए। युगोस्लाविया से अलग हो कई नये राष्ट्रों के निर्माण की प्रक्रिया अंतिम चरण में है। चेकोस्लोवाकिया से चेक और स्लोवाक दो अलग राष्ट्र मैत्रीपूर्ण समझौते से अस्तित्व में आ गए हैं। जहाँ उपराष्ट्रीयता की भावना को निर्दयता से दबाने के प्रयास हुए वहाँ भी जैसे पूर्वी तिमोर में अंतर्राष्ट्रीय शक्तियों के हस्तक्षेप से इंडोनेशिया से अलग एक राष्ट्र अस्तित्व में आ गया इसलिए भारत को भी अपनी दृष्टि में परिस्थितियों के हिसाब से लचीलापन रखना होगा।

भारत के लिए कश्मीर की स्थिति अत्यंत ही दुःखदायी इसलिए है क्योंकि हम

खमियाजा भुगत रहे हैं एक बिलकुल बनावटी विभाजन का, जिसका राष्ट्रीयता के मानकों से कोई तर्क नहीं बनता था। हम अगर रूढ़ बन चुकी भावनाओं से ऊपर आ सकें तो लोकतांत्रिक प्रक्रिया के भीतर ही अलगाववादी विचारों को भी विवाद या संवाद के रूप में जगह दे सकते हैं।

दुनिया के कई लोकतंत्रों में इस तरह की स्थिति है जिसे लोग सहज भाव से स्वीकार करते रहे हैं। कनाडा के फ्रांसीसी भाषा-भाषी क्युबेक राज्य में शुरू से ही अंग्रेजी भाषी कनाडा से स्वतंत्र राष्ट्र बनने का एक आंदोलन रहा है। अलगाववादी विचार रखने वाले लोग वहाँ के निर्वाचनों में भी यह मुद्दा उठाते रहे हैं। अभी तक बहुमत ने इसे स्वीकार नहीं किया है। पर यह एक स्थायी मुद्दा है। ऐसी ही एक माँग ब्रिटेन के स्कॉटलैंड में है। वहाँ की स्कॉटिश नेशनलिस्ट पार्टी दशकों से ब्रिटेन से स्कॉटलैंड को अलग करने के मुद्दे पर चुनाव लड़ती रही है। कभी-कभी उन्हें दो प्रमुख पार्टियाँ लेबर और कंजरवेटिव के बराबर मत प्राप्त हो जाते हैं। ब्रिटेन के वेल्स में भी 'साइमु फिड्ड' नाम से ऐसा ही अलगाववादी दल बनाने के प्रयास होते रहे हैं : हालाँकि इसे सफलता कम ही मिली है। ये पार्टियाँ अब तक अपने को ब्रिटेन से अलग तो नहीं कर पाई हैं लेकिन उनकी भावनाओं का सम्मान करते हुए स्कॉटलैंड और वेल्स में अलग एसेंबलियों का प्रावधान कर दिया गया है।

इसके विपरीत उत्तरी आयरलैंड जहाँ कैथोलिक और प्रोटेस्टेंटों की धार्मिक कट्टरता ने हिंसक संघर्षों को जन्म दिया और आयरिश रिपब्लिकन आर्मी नामक आतंकवादी संगठन सक्रिय रहा यह समस्या उलझी हुई ही है। चार साल पहले टोनी ब्लेयर के प्रयासों से साझा लोकतांत्रिक सरकार बनी। लेकिन फिलहाल कट्टरता के कारण वह भी टूट की कगार पर है।

अगर कश्मीर में लोकतांत्रिक प्रक्रिया को पूरी तरह विश्वसनीय बनाया जा सका, जिसकी शुरुआत पिछले चुनाव में हुई लगती है तो अलगाववादी समूहों को भी इस बात के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है कि वे चुनावी प्रक्रिया में शामिल हों और यह साबित करने की कोशिश करें कि कश्मीर की अवाम उनके साथ सहमत है। आम आदमी रोजाना की जिंदगी की अनेक समस्याओं से जूझता रहता है और निर्वाचनों के समय ज्यादातर उनकी ये ही समस्याएँ उनके मन पर छाई रहती हैं। किसी तरह की असहिष्णुता या भेदभाव से जब तक लोगों का साथ रहना अत्यंत दुःखदायी नहीं हो जाता लोग अलगाव की बात नहीं सोचते क्योंकि अलगाव सदा जीवन को अस्तव्यस्त करने वाला होता है।

कश्मीर में पिछले वर्षों में हिंदू और मुस्लिम दोनों तरह की कट्टरता बढ़ी थी और चरमपंथी तो बिलकुल इस्लामी कट्टरपंथियों के कैदी बन गए थे। इस चुनाव के नतीजों ने भाजपा को लगभग दफना दिया है, और चुनाव में अपनी भारी भागीदारी से चरमपंथियों को दरकिनार कर लोगों ने एक जमीन तैयार की है जिसमें कश्मीर

की पारंपरिक-धार्मिक सहिष्णुता वापस हो और लोग विवादों को सहज लोकतांत्रिक प्रक्रिया से निपटाने की कोशिश करें। अगर बनने वाली नयी सरकार लोगों की समस्याओं के प्रति संवेदनशील हो और जनता से पिछले दिनों भंग हुए संवादसूत्र को जोड़ सके तो कश्मीर की उन समस्याओं का हल भी निकल आएगा जिन्हें चरमपंथी अब तक एकमात्र समस्या मानते रहे हैं।

कश्मीरियत, भारतीयता और बदले संदर्भ

अचानक आपसी बातचीत को लेकर भारत और पाकिस्तान दोनों के शासकों के रुख में भारी नरमी दिखाई देने लगी है। अगर शब्दों को लें तो कोई खास बदलाव नहीं दिखाई देता। लेकिन जहाँ इन्हीं शब्दों के पीछे पहले तल्खी दिखाई देती थी वहीं अब पुरानी अदावत को रफा-दफा करने का रुझान दिखाई देता है। रामायण की एक पंक्ति है 'भय बिन होय न प्रीत'। इस नवोदित प्रीत के पीछे निश्चित रूप से भय का हाथ है। भय एक दूसरे का नहीं। इराक युद्ध के क्रम में उभरकर सामने आई अमेरिकी आक्रामकता का। इराक को लहूलुहान करने के बाद जिस तरह की घुड़की अमेरिका ने सीरिया और ईरान को दी है या फ्रांस को अपने इराक पर हमले का विरोध करने के लिए देख लेने की धमकी दे डाली है, उससे साफ दिखाई देता है कि दुनिया के दूसरे देशों को अपनी मर्जी मुताबिक हाँकने के अधिकार को घोषित करने में अमेरिका कोई कोताही नहीं बरत रहा है। अटल बिहारी वाजपेयी और मुशर्रफ में कोई भी इस अमेरिकी हिदायत की अनदेखी नहीं कर सकता कि उन्हें जल्दी मिल-बैठ कुछ तय तस्फिया कर लेना है। जिस तरह भाजपा नेतृत्व वाली सरकार ने अपने को अमेरिकापरस्त बना लिया है और उसकी मरजी के हिसाब से देश की अर्थव्यवस्था सुधारती रही है उसे देखते हुए यह कुछ विश्वास से कहा जा सकता है कि अब मन का आपा खोकर भारतीय प्रतिनिधि पाकिस्तानियों से हाथ मिलाएँगे।

चाहे कारण जो हों, यह स्वागतयोग्य है कि भारत और पाकिस्तान सिर्फ पड़ोसी नहीं दोस्त बनकर रहें। परंपरा, इतिहास, मूल, धर्म, व्यक्तिगत नाते-रिश्ते सभी इन्हें जोड़ने वाले हैं जबकि इन्हें अलग करने वाला घाव कल का है और पूरे इतिहास के परिप्रेक्ष्य में एक क्षणिक पागलपन का परिणाम। घाव ताजा है इसलिए दुखदायी भी। लेकिन दोनों देशों के स्वास्थ्य के लिए यह जरूरी है कि इसकी मरहम-पट्टी जल्दी की जाए। कश्मीर, जो आज इन दोनों के बीच विवाद का मुद्दा बना हुआ है, दरअसल कल इन्हें जोड़ने की कड़ी बन सकता है। इस संदर्भ में कश्मीर की अपनी यात्रा के दौरान प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी का कश्मीरियत का गुणगान एक शुभ संकेत है। कश्मीरियत की विशेषता यह है कि इस राज्य में परंपरा से हिंदू, मुसलमान,

सिख, बौद्ध और यहाँ की अनेक जातियों के लोग साथ मिलकर सैकड़ों वर्षों से रहते आए थे और एक साझी संस्कृति विकसित कर चुके थे। कश्मीर की अलग पहचान में इस बात की विशेष भूमिका थी।

यह दुखद हकीकत है कि उस संघ परिवार ने, वर्तमान प्रधानमंत्री जिसके एक प्रतिबद्ध स्वयंसेवक हैं, कश्मीरियत के इस चरित्र को नष्ट करने में सबसे घातक प्रहार किया। संविधान की धारा 370 दरअसल कश्मीर की विशिष्टता और भारत के साथ इस विशिष्टता के साथ जुड़ने की विशेष स्थिति की अभिव्यक्ति है। उस धारा को खत्म करने की माँग अंध सांप्रदायिकता के दबाव में उस विशिष्टता को नष्ट करने का प्रयास था। कश्मीर के पृथकतावादी आंदोलन के धीरे-धीरे इस्लामी कट्टरपंथ के हाथों में जाने के पीछे हिंदुत्ववादियों के मूढ़ प्रयासों का खास योगदान था। इसी का नतीजा है कि जो कश्मीरी पंडित सदियों से पड़ोसी मुसलमानों के साथ भाईचारे से रह रहे थे, कश्मीर घाटी को छोड़ आज विस्थापन की यातना भुगत रहे हैं। पाकिस्तान की शह पर आतंकवादियों द्वारा बार-बार हिंदुओं की हत्याएँ उस खाई को चौड़ा करने का प्रयास भर हैं जिसे संघ परिवार ने खोदा था। आज भी भारत के दूसरे हिस्सों में संघ परिवार ऐसी ही खाइयाँ खोदने में सक्रिय है।

ऊपर जो बातें कही गई हैं उनके दो निष्कर्ष निकलते हैं। एक तो यह कि कश्मीर के संबंध में कोई भी निर्णय लेने में कश्मीरी लोगों की राय सर्वाधिक महत्त्व की है—भारत और पाकिस्तान दोनों ही में बँटे कश्मीरियों की राय। पाकिस्तान के साथ भारत का संबंध विभाजन की विशेष परिस्थितियों के कारण आनुषंगिक जरूर बन गया है लेकिन अपने भविष्य का निर्धारण कश्मीरियों का अपना मामला है। हमारी लोकतांत्रिक प्रतिबद्धताओं के मद्देनजर एक ही समस्या रहती है; कौन-सा तरीका अपनाया जाए जिसमें बाहरी हस्तक्षेप या दबाव से मुक्त हो कश्मीर के लोग अपने भविष्य के बारे में अपने विचार दे सकें। दूसरा, कि कश्मीर की अस्मिता या कश्मीरियत अक्षुण्ण तभी रहेगी जब यह इस्लामी कट्टरपंथ और हिंदुत्ववादी कट्टरपंथ दोनों के प्रभाव से मुक्त रहे। यह तो सहज ही देखा जा सकता है कि मूलतः तीन धर्मों को मानने वाले लोगों के इस राज्य में—जिसमें भौगोलिक दृष्टि से जम्मू हिंदू बहुल है, कश्मीर घाटी मुस्लिम बहुल और लद्दाख बौद्ध बहुल—धर्मनिरपेक्षता को छोड़ने की तार्किक परिणति राज्य के तीन टुकड़ों में बँटवारा होगी। असल समस्या है कि क्या लोकतंत्र में विश्वास करने वाली शक्तियाँ इतनी सशक्त हो सकेंगी कि कश्मीर में हिंदुत्ववादी और इस्लामी कट्टरपंथियों के प्रभाव को निरस्त कर सकें? यह बात इससे भी जुड़ जाती है कि स्वयं भारत का चरित्र क्या होगा। कश्मीर का सांप्रदायिक माहौल क्या होगा। यह काफी कुछ इस पर निर्भर करेगा कि भारत पूरी शक्ति के साथ संविधान द्वारा स्वीकृत धर्मनिरपेक्षता के अपने संकल्प पर अडिग रहता है या नहीं।

इधर हाल के वर्षों की घटनाओं से ऐसा लगता है कि अपनी संवैधानिक मान्यताओं के बावजूद देश अपने संकल्प में ढीला पड़ रहा है। गुजरात जैसे कुछ राज्यों में तो शासन ही वैसे लोगों के हाथों में है जो देश के धर्मनिरपेक्ष स्वरूप को नष्ट करने के लिए प्रतिबद्ध हैं। उनके साथ अनेक लंपट तत्त्व, देसी-विदेशी धन और प्रचारतंत्र के बल पर देश के मन को खंडित करने में लगे हैं। इस माहौल से घिरे कश्मीरी अपनी कश्मीरियत को कब तक बचा पाएँगे यह कहना मुश्किल है। अपने को इस्लामी राज्य कहने वाले पाकिस्तान के लिए यह सुविधाजनक है कि कश्मीर में भी इस्लामी राज्य बने। उसे इसकी शायद परवाह नहीं कि इससे कश्मीर कम से कम तीन टुकड़ों में बँट जाएगा। शायद भारत के हिंदुत्ववादियों को भी इसकी परवाह नहीं। यह भी विडंबना ही है कि इस बिंदु पर पाकिस्तान, और भारत के हिंदुत्ववादी एक-दूसरे के पूरक हैं। फिर भी इसमें अचरज की कोई बात नहीं। सावरकर भी तो जिन्ना के दो राष्ट्र के सिद्धांत के समर्थक थे।

प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी को कश्मीरियत की वकालत से बढ़कर अब भारतीयता का आदर करने की सलाह भी देश की जनता को देनी चाहिए। एक आम भारतीय सहज भाव से भारतीयता को स्वीकार कर लेता है। भारतीयता भी बिना भेदभाव के देश के सभी धर्मों, जातियों, मूलों और भाषाओं के लोगों को एक सूत्र में बाँधने वाली अवधारणा है। यह संघ परिवार के प्रयास का नतीजा है कि देश के बहुत से लोगों में भारत राष्ट्र की जगह हिंदू राष्ट्र की भावना भर दी गई है। हिंदू राष्ट्र की भावना सभी धर्मों और मूलों को समाहित करने वाली समेकित भारतीय राष्ट्र की भावना के ठीक उलटी है। देश भर में हजारों स्थानों पर हर दिन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की शाखाओं में भगवा झंडे का हिंदू राष्ट्र की ध्वजा के रूप में अभिवादन किया जाता है। क्या अटल बिहारी वाजपेयी में यह साहस है कि वे खुले रूप से राष्ट्र की एकता को चुनौती देने वाले इस प्रयास पर रोक लगाएँ या इसकी खुली भर्त्सना करें? कश्मीरियत की तारीफ और भारतीयता का अवमूल्यन साथ-साथ नहीं चल सकता। मूलतः दोनों उस प्रक्रिया की अभिव्यक्ति हैं जिसमें सदियों से विविध मूलों और विचारों के लोग ढलकर राष्ट्रीय एकता के एक साँचे में ढले हैं।

इराक पर अमेरिकी आक्रमण के बाद राष्ट्र की आजादी के लिए सौहार्द पर आधारित एकता की आवश्यकता पहले से कहीं अधिक बढ़ गई है। जिस तरह कुर्द-बहुल उत्तरी इराक में अमेरिकी सैनिकों को कुर्दों की सहायता मिली या जिस तरह शिया लोगों ने सद्दाम का साथ छोड़ दिया वह बतलाता है कि बाहरी आक्रमण का मुकाबला तब तक नहीं किया जा सकता जब तक शासन के पीछे जनता के सभी तबकों का स्वैच्छिक सहयोग नहीं हो। भारत सरकार को यह मुगालता छोड़ देना चाहिए कि भारत की फौज बाहर से खरीदे गए जिन हथियारों से लैस है वे अमेरिका के अत्याधुनिक युद्ध आयुधों के सामने कबाड़खाने के कचरे से बेहतर साबित

होंगे। सद्दाम हुसैन के बहुचर्चित रिपब्लिकन गार्ड के वायुयान या विमानभेदी तोपों या मिसाइलों का कहीं अता-पता नहीं था जब अमेरिकी मिसाइलों और बमों की वर्षा इराक के नगरों पर हो रही थी। अमेरिका के सामने भारत का परमाणु बम भी, जिस पर भूखे देश की रोटी छीन भारी धन बर्बाद किया गया है, खिलौने से अधिक साबित नहीं होगा। जहाँ तक पड़ोसी पाकिस्तान का सवाल है उसके मुकाबले भारत का परमाणु बम या भारत के मुकाबले पाकिस्तान का परमाणु बम हमला या बचाव के हथियार नहीं, दोनों देशों को कब्रिस्तान में तब्दील कर देने के हथियार हैं। हिंदुत्व का उन्माद वर्तमान समय की अत्याधुनिक तकनीक पर आधारित फौजी ताकत का जवाब नहीं हो सकता।

अमेरिकी साम्राज्यवाद अभी बेखौफ और बेलगाम संसार को अपनी गिरफ्त में लेने को आतुर है। वह पश्चिमी साम्राज्यवाद की आत्यंतिक अभिव्यक्ति है। उसे निरस्त करने का एक ही उपाय है अमेरिकी वस्तुओं का पूरी तरह बहिष्कार और आत्मनिर्भर स्वदेशी अर्थव्यवस्था का विकास। पश्चिमी देशों के साथ हमारे संपर्क ने संपन्नता के कुछ पॉकेटों को भले ही विकसित किया हो, देश की विशाल जनता को आर्थिक और सांस्कृतिक बदहाली की ओर ही ढकेला है। इसमें संदेह नहीं कि देश के एक छोटे से संपन्न तबके को यह बात पसंद नहीं आएगी। वे पश्चिमी उद्योग और व्यापार की साझेदारी से दरिद्र देश के बीच राजसी शान-शौकत में रह रहे हैं। शायद इस वर्ग को गुलामी की जिंदगी से कोई गुरेज नहीं हो।

हमारे देश को अंग्रेजों के हवाले करने में दो दौलतमंद सेठों के शर्मनाक सहयोग का हाथ था। संभव है आज उससे बड़ी संख्या में ऐसे अमीर लोग विदेशी हितों की तरफदारी में आगे आएँ। लेकिन देश के नब्बे फीसद लोगों की इस संपन्नता में कोई हिस्सेदारी नहीं। उन लोगों का हित इसी में है कि वे स्वायत्तता पर आधारित सादगी और आत्मसम्मान की जिंदगी जिएँ। आज ऐसी ही स्वायत्त अर्थव्यवस्था के आधार पर हम अपनी आजादी की रक्षा अमेरिका या इसके सहयोगी देशों द्वारा दुनिया पर लादे जा रहे साम्राज्यवाद से कर सकते हैं। इस युद्ध में हमारा हथियार होगा असहयोग और अहिंसक प्रतिरोध। ये हथियार इस देश के लिए अपरिचित नहीं हैं। लेकिन आजादी की रक्षा के इन हथियारों का सफल प्रयोग तभी संभव होगा जब हम अपने विशाल देश के विविध अंचलों में फैले आमजन की भावना का आदर करें और उनके स्वैच्छिक सहयोग को अपनी आजादी की लड़ाई से जोड़ें। इस संदर्भ में कश्मीर समस्या का मित्रतापूर्ण हल और पाकिस्तान के साथ दोस्ताना रिश्ता दक्षिण एशिया के देशों के लिए सम्मान के साथ जीने की शर्त बन गया है।

हत्या, दंड और प्रतिहिंसा

विशेष पोटा अदालत ने दिल्ली में जिलानी, अफजल और शौकत को 18 दिसंबर 2002 को सजा-ए-मौत सुनाई। दर्शकों में कुछ ने खुशियाँ मनाई और कुछ ने पटाखे छोड़े। दूसरे दिन सुदूर झारखंड में एमसीसी ने 'जन अदालत' के फैसले को अंजाम देते हुए 18 सुरक्षाकर्मियों को मौत के घाट उतार दिया। वहाँ भी जरूर नारे लगे होंगे। जम्मू-कश्मीर में भी दूसरे दिन एक चरमपंथी इस्लामी संगठन ने बुर्का पहनने के उनके निर्देश की अवहेलना करने के जुर्म में चार महिलाओं को सजा-ए-मौत दी। मौत की सजा या अनिवार्यता पर सजा देने वाले 'न्यायाधीशों' में सहमति थी हालाँकि सजा देने के उनके अधिकार के संबंध में गंभीर मतभेद हो सकते हैं।

पोटा के तहत कायम विशेष अदालत को भारतीय राज्य की तरफ से मान्यता प्राप्त थी इसलिए बहुत सारे लोग इसके अधिकार को विवाद से परे मानते हैं। लेकिन इसके तहत चलाई गई न्यायिक प्रक्रिया की निष्पक्षता पर पोटा कानून के पारित होने के समय से ही संदेह व्यक्त किया जाने लगा था। विशेषकर इस बार के फैसले को तो 'सैयद अब्दुल रहमान जिलानी बचाव समिति' ने पूरी तरह दोषपूर्ण करार देते हुए उन साक्ष्यों को, जिनके आधार पर सजा सुनाई गई है, आधारहीन बतलाया है। इसमें उस टेप का भी हवाला दिया गया है जिसे पुलिस ने साक्ष्य की तरह पेश किया है। बचाव समिति इसके खिलाफ उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय तक अपील में जाएगी। एमसीसी की जन अदालत को मौत देने का अधिकार भविष्य के उनके सुनहरे समाज की संभावना से प्राप्त है जिसके लिए वे प्रयत्नशील हैं। इस्लामी चरमपंथियों का अधिकार तो स्वयं भगवान (अल्लाह) से प्राप्त है जिनकी इच्छा को वे पहले स्वधर्मियों और बाद में संसार पर लागू करना चाहते हैं। बाद वाले फैसलों के खिलाफ अपील की कोई गुंजाइश नहीं क्योंकि फैसले को अंजाम त्वरित रूप से दिया गया और सजा देने वाले चाहें भी तो अपनी सजा बदलकर मृतकों को फिर से जिंदगी नहीं दे सकते।

जहाँ सभी तरह की न्यायिक प्रक्रियाओं का पालन करते हुए मुजरिमों को मौत की सजा सुनाई जाती है वहाँ भी मौत की सजा को इतना भयावह माना जाता है कि इस बात का जरा भी संदेह होने पर कि मुजरिम निरपराध हो सकता है, प्रायः

उसे छोड़ दिया जाता है। इसके पीछे यह एहसास है कि मृत्युदंड देने के बाद अगर यह निर्णय गलत लगे तो दंडित व्यक्ति को दंड से मुक्त कर फिर जिलाया नहीं जा सकता। अनेक ऐसे मामले सामने आने के बाद कि जिन लोगों को मौत की सजा दी गई थी, वे दरअसल उस जुर्म के दोषी नहीं थे जिसके लिए उन्हें मृत्युदंड दिया गया, यह आवाज उठने लगी थी कि मृत्युदंड को दंडविधान से बाहर ही कर देना चाहिए। इसके पीछे यह ऐतिहासिक अनुभव भी रहा है कि मृत्युदंड के बावजूद संसार से वे अपराध खत्म नहीं हुए हैं जिनके लिए अपराधियों को मृत्युदंड दिया जाता रहा है। यही कारण है कि सभ्य माने जाने वाले पश्चिमी देशों में अधिकांश ने अपने यहाँ से मृत्युदंड को न्याय विधान से हटा दिया है। सभ्य माने जाने वाले पश्चिमी देशों में अमेरिका प्राणदंड समाप्त करने के लिए तैयार नहीं है। इसके पीछे अमेरिका की विशेष विरासत की भूमिका भी रही है।

अपनी औद्योगिक और तकनीकी प्रगति से अमेरिका भले ही सभ्य लगे, उसका मानवीय मूल्यों से लगाव बहुत सतही है। इसके बावजूद कि कुछ विशेष कालखंडों में उसने मानव अधिकार के ऊँचे आदर्शों की घोषणा की और इनके लिए प्रतिबद्ध महान व्यक्तियों—जैसे अब्राहम लिंकन, थोरो, मार्टिन लूथर किंग—को पैदा किया, अमेरिकी सभ्यता की बुनियाद ऐसी सामूहिक हत्या और अत्याचार पर डाली गई है कि अमेरिकी नागरिकों पर हिंसक उन्माद जल्दी सवार होता है। अमेरिका की नींव वहाँ के मूल निवासियों को, जिन्हें उन्होंने 'रेड इंडियन' कहा, को लगभग समूल नष्ट करके या खदेड़ कर कुछ रिजर्व स्थानों में रहने को बाध्य करके पड़ी। इसके अलावा करोड़ों अफ्रीकी मूल के लोगों को उनके परिवेश से उजाड़ कर जबर्दस्ती गुलाम बनाकर लाया गया। गुलामी की व्यवस्था खत्म होने के बाद भी अफ्रीकी मूल के लोगों को तरह-तरह के भेदभाव से और कू-क्लक्स-क्लान्र जैसी उन्मादी जमातों द्वारा सताया जाता रहा है। इस अतीत का प्रभाव न सिर्फ जन मानस पर है, बल्कि स्वयं वहाँ की सरकार और न्याय व्यवस्था पर उन्मादी भीड़तंत्र का प्रभाव है। यही कारण है कि एक तरफ रोजेनबर्ग दंपति को रूसियों को परमाणु बम संबंधी कुछ जानकारी उपलब्ध कराने के अभियोग में न्यायपालिका द्वारा मृत्युदंड दिया जाता है तो दूसरी तरफ उन्माद में आम लोगों द्वारा किसी को संदेह में मार डाला जाता है।

ग्यारह सितंबर की घटना के बाद एशियाई मूल के अनेक लोग ऐसे उन्माद का शिकार बने और एक भारतीय मूल के सिख की तो हत्या ही कर दी गई। अमेरिका की शासन व्यवस्था अब तक अपने स्वार्थ की रक्षा में इसी कारण किसी नैतिक मूल्यबोध या मानवीय भावना को बाधा नहीं मानती। अल कायदा के खिलाफ अपने अभियान में उसने अपने खुफिया तंत्र सीआईए को यह निर्देश दे रखा है कि वह अल कायदा

के गिने-चुने लोगों की, चाहे वे किसी देश में हों, हत्या करा सकती है। उसे इस बात की कोई परवाह नहीं कि इन देशों की न्यायिक प्रक्रिया के तहत ऐसी हत्या के लिए स्वयं अमेरिकी राष्ट्रपति हत्या का मुजरिम होगा। अमेरिका आश्वस्त है कि उसकी शक्ति के सामने कोई राष्ट्रीय या अंतर्राष्ट्रीय न्यायिक व्यवस्था ऐसी पहल का साहस नहीं करेगी। ऐसी निर्मम हिंसा पर आधारित अमेरिकी व्यवस्था इसीलिए मृत्युदंड खत्म करने की बात जल्दी सोच नहीं सकती। लेकिन बुद्ध और गाँधी का देश होने का दावा करने वाले भारत को इस अमानवीय और निरर्थक दंड को अपने दंड विधान से अलग करना चाहिए, यह अपेक्षा स्वाभाविक है। पर भारत में अब भी मृत्युदंड का विधान है।

लेकिन समस्या सिर्फ राज्यों की न्यायिक व्यवस्था द्वारा दी जाने वाली सजा-ए-मौत की नहीं है। 'क्रांतिकारी' समूहों द्वारा ऐसी हत्याओं को अंजाम दिया जाना भी बढ़ रहे राजनीतिक नरसंहारों की शृंखला में महत्त्वपूर्ण कारक हैं। प्रायः ये दोनों ही—राज्य और विद्रोही—एक-दूसरे के पूरक बनते हैं और हिंसा और हत्या के उस अंतर्निहित दबाव को उत्तेजना देते हैं जिस पर विजय पाना मनुष्य को पशुओं से अलग कर मानवीय बनाने के हजारों वर्ष से चल रहे अभियान का महत्त्वपूर्ण लक्ष्य रहा है। रूस में नृशंस जारशाही व्यवस्था के विरुद्ध हत्याओं की राजनीति को 'निहिलिस्ट' कहे जाने वाले समूह ने एक दार्शनिक औचित्य प्रदान करने की कोशिश की, पर उस पर उन्नीसवीं सदी के अंतिम चरण में लगातार चिंतन होता रहा। अराजकवादी नेता बाकुनिन के एक समर्थक नेचाएव ने कुछ ऐसे ही प्रभाव में संगठन के भीतर विरोधियों के खिलाफ भी ऐसी नीति चलाने की कोशिश की जिससे बाकुनिन ने उसे संगठन से अलग कर दिया। लेकिन मनुष्य की हत्या करना मानव स्वभाव से इतना विपरीत लगता था कि इस पर लगातार चिंतन होता रहा। विख्यात उपन्यासकार दोस्तोएव्स्की के एक से अधिक उपन्यासों में ऐसी हत्या की मानसिकता और इससे जुड़े अंतर्विरोधों को गहराई से समझने का प्रयास किया गया। लेकिन इस विषय का सबसे प्रखर विवेचन आल्बेर कामू ने अपनी दार्शनिक पुस्तक 'विद्रोही' (दोम्म रिवोल्ते) में किया। उसका मूल उद्देश्य यह बतलाना था कि विद्रोह, जो संसार में अन्याय मिटा कर न्याय का राज्य स्थापित करने के अभिप्राय से होता है, जब स्वयं हिंसा को केंद्र में रख कर सत्ता स्थापित करता है तो उसी अन्याय और दमन के साम्राज्य में परिणत हो जाता है जिसे मिटाने के लिए वह हत्या या हिंसा का सहारा लेता है।

कोई भी व्यवस्था समाज में बनने के पहले क्रांतिकारियों के मस्तिष्क में बनती है। कामू ने एक विशाल फलक पर नयी व्यवस्था के लिए विद्रोह को भगवान के

विधान से लेकर मनुष्य द्वारा बनाई गई व्यवस्था तक में रेखांकित किया है। इसमें उसने रूसो, द' साद, करामाजोव (दोस्तोएव्स्की के उपन्यास के पात्र) और नीत्शे से लेकर फ्रांस की क्रांति के नायक सेंट जस्ट और रूस के क्रांतिकारी कालियाएव तक को शामिल किया गया है। इसमें अंतिम पात्र कालियाएव जान लेने के बदले स्वयं जान देने का संकल्प करके एक नया संदेश देता है। भविष्य क्या होगा और इतिहास की परिणति क्या होगी, इसका ज्ञान तो इतिहास के अंतिम चरण में ही हो सकता है जब देखने को कोई नहीं बचेगा। इस तरह जान लेने की कीमत जान देकर ही चुकाई जा सकती है और इसी से विद्रोही अपने काम का औचित्य सिद्ध कर सकता है। जब तक मानव जीवन के प्रति यह आदर भाव न हो, विद्रोहियों की हिंसा फिर किसी दूसरी तरह की अमानवीय और दमनकारी व्यवस्था को ही जन्म देगी। कामू ने जब यह पुस्तक लिखी थी—यानी 1951 में तो संसार की हिंसक क्रांतियों के अनेक नमूने सामने आ चुके थे। स्वयं रूस में, जहाँ से विवाद शुरू हुआ था, घोर तानाशाही कायम हो चुकी थी जिसमें आजादी के सारे सपने चूर हो गए थे।

इस विवाद की याद दिलाना आज इसलिए आवश्यक लगता है कि नये विद्रोही समूहों ने ऐसे विद्रोहों और हत्या की राजनीति को या तो समझा नहीं है या उन पर विचार नहीं किया है। वर्तमान विद्रोहों में आत्मघाती आक्रमणों की संख्या बढ़ती जा रही है और पूर्व के क्रांतिकारियों के प्रयासों के विपरीत इन हत्याओं में शासन के शीर्ष लोगों की बजाय मौत निरपराध नागरिकों या निचले दर्जे के गरीब सुरक्षाकर्मियों की ही होती है। आत्मघात से भी कभी भविष्य सुनिश्चित नहीं होता, सिर्फ हिसाब-किताब बराबर होता है। यानी जान ली तो जान दी। दूसरी ओर सत्ता में सुरक्षित बैठे लोगों द्वारा दमन और तेज किया जाता है जिसका खमियाजा खास कर उन लोगों को भुगतना होता है जिनकी जिंदगी की बेहतरी के लिए आत्म-बलिदान किया जाता है।

भारत समेत तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों में ऐसी आतंकवादी गतिविधियों की संख्या लगातार बढ़ती जा रही है। अमेरिका के अल कायदा के खिलाफ अभियान के पीछे तो हत्या की राजनीति को खत्म करने का कोई लक्ष्य ही नहीं है। यह उसके सिर्फ विशाल अहं पर आघात से पैदा प्रतिशोध की भावना की उपज है। इसके लिए वह दुनिया को वर्ल्ड ट्रेड सेंटर के मृतकों से अनेक गुना अधिक लाशों से धरती को पाट देना चाहता है। लेकिन भारत, श्रीलंका, पाकिस्तान या दूसरे एशियाई देश इस रास्ते अमन हासिल नहीं कर सकते। उन्हें और विशेषकर भारत को अहिंसा, क्षमाशीलता आदि की अपनी विरासत से सीखना होगा। आतंकवादी विद्रोही हिंसा के खिलाफ राज्य की न्यायिक हिंसा या राज्य के आतंक से हिंसा की शृंखला टूटेगी नहीं, लगातार बढ़ती जाएगी। हिंसा की राजनीति को लेकर चल रहे बागी समूहों

और स्वयं भारत की शासन व्यवस्था को अपनी नीतियों पर गहराई से विचार करना आवश्यक हो गया है। दरअसल हत्या और प्रतिहत्या का एक दुश्चक्र होता है जिसे उन्मादी मानसिकता से तोड़ा नहीं जा सकता। न्यायिक प्रक्रियाएँ भी अंततः समाज में व्याप्त पूर्वग्रहों को तार्किकता (रेशनैलिटी) प्रदान करने का ही माध्यम हैं। इस सत्य से इतिहास के अब तक के अनुभवों के आलोक में इनकार नहीं किया जा सकता।

(घ)

अर्थनीति और विकासनीति

कानकुन की बेगानी महफिल

भारत जैसे गरीब मुल्कों में वैश्विक अर्थव्यवस्था का नाकारापन कृषि क्षेत्र में साफ तौर से दिखाई देता है। औद्योगिक क्षेत्र में कुछ बहुराष्ट्रीय कंपनियों के अपने या साझा उद्योगों के स्थापित हो जाने से हम कहाँ हैं यह हकीकत छिप जाती है। मारुति, हिंदुस्तान लीवर, पेप्सी और कोला जैसी विदेशी कंपनियों की अति विज्ञापित उपस्थिति से यह भ्रम पैदा होता है कि औद्योगिक देशों की कतार में हम भी खड़े हैं भले ही हमारी जगह पायदान के पास ही हो। 'आउट सोर्सिंग' से जो बौद्धिक कुलियों की भरमार देश में हो रही है उससे भी भ्रम पैदा होता है कि हम सूचना तकनीक के क्षेत्र में अग्रणी हैं। लेकिन कृषि के क्षेत्र में, जिस पर आज भी देश की सत्तर फीसद आबादी निर्भर है, दुनिया में हमारी कोई पूछ ही नहीं है। दोहा से प्रारंभ वार्ताओं के चक्र में मेक्सिको के कानकुन की मंत्री स्तरीय बैठक के पूर्व जो पहल हुई है उसमें भारत अपनी भूमिका को भी निश्चित करने में असमर्थ है। दरअसल यह स्थिति विश्व व्यापार संगठन के मूल उद्देश्यों के हिसाब से भारत की अप्रासंगिकता दर्शाती है।

विश्व व्यापार संगठन का मूल उद्देश्य है सारी दुनिया को अबाध व्यापार के लिए खोलना। यह नीति सदा सशक्त व्यापारिक समूहों के हित में होती है। फिलहाल मामला इसलिए उलझा हुआ है क्योंकि कृषि क्षेत्र के तीन शक्तिशाली हितों के बीच विरोध पैदा हो गया है। अब तक अपनी स्थिति के हिसाब से सभी देश अपने यहाँ के कृषि उत्पादन को सहारा देते रहे हैं। इसमें दो तरह के लक्ष्य सभी देशों की सरकारों के सामने रहे हैं। पहला, अपने देश के कृषि उत्पादन को अनुदान से सहारा देना और दूसरा, विभिन्न देशों के बाजारों को अपने कृषि उत्पादों के लिए खोलना। बाजार बिना भेदभाव के काम करे इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए विभिन्न देशों पर यह दबाव बनाए रखना है कि वे कृषिजन्य वस्तुओं के आयात पर चुंगी बहुत कम रखें और निर्यात के लिए सरकारों द्वारा सहायता को नियंत्रित किया जाए। इसके अलावा कृषिजन्य वस्तुओं की कीमत को अत्यधिक नीचे स्तर पर रखने के उद्देश्य से सरकारों द्वारा इसको दिए जाने वाले अनुदान की मात्रा सीमित की जाए। भारत का स्थान

कृषि उत्पादन और कृषिजन्य वस्तुओं के निर्यात में इतना नगण्य है कि यह विश्व व्यापार संगठन की इन चिंताओं को नजरअंदाज कर अपनी अर्थव्यवस्था को बिना किसी कठिनाई के चला सकता है। इसकी कृषि की विविधता और आंतरिक बाजार इतना व्यापक है कि भारत उत्पादन और बिनिमय के मामले में आत्मनिर्भर रह सकता है। दरअसल कृषि व्यापार के प्रमुख खिलाड़ी भारत की इस स्थिति को समझते हैं और इसलिए उनकी नीतियों में भारत जैसे देशों की चिंताओं का कोई खयाल भी नहीं रखा गया है। भारत का विश्व व्यापार के व्यूह में घुसना बिल्कुल अनावश्यक है। विशाल पैमाने के अनुदान (सब्सिडी) की होड़ में पड़ने की न तो भारत की क्षमता है और न इसे इसकी आवश्यकता है। संसार की कृषि व्यवस्था की स्थिति पर विचार करने से यह बात जाहिर हो जाएगी।

अभी इस मैदान के प्रमुख खिलाड़ियों को तीन हिस्सों में बाँटा जा सकता है। एक में वे औद्योगिक देश हैं जो भारी अनुदान से अपनी कृषि को दुनिया के बाजार की स्पर्धा में जिंदा रखना चाहते हैं। इसमें यूरोपीय संघ, जापान, स्विटजरलैंड और नार्वे जैसे देश हैं। दूसरी कोटि में अमेरिका जैसे कुछ अति विकसित देश भी हैं और कैर्न नाम से जाना जाने वाला सोलह राष्ट्रों का एक समूह है जिसमें कुछ अति विकसित और कुछ अविकसित औद्योगिक देश हैं जो संसार में अपनी कृषिजन्य वस्तुओं के निर्यात को बढ़ाना चाहते हैं, क्योंकि यह उनकी अर्थव्यवस्था का महत्त्वपूर्ण आधार है। इस समूह में कनाडा, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड काफी समृद्ध देश हैं। ये सभी अपनी कृषि को अनुदान देकर निर्यात बढ़ाने की कोशिश करते हैं। इनकी मुख्य चिंता आयात पर चुंगी कम करने की है ताकि इनके उत्पाद दूसरे देशों में सस्ती दर पर बेचे जा सकें। फिलहाल मुख्य विवाद अमेरिका और यूरोपीय संघ के बीच अनुदान की मात्रा को लेकर है। दोनों ही अपनी कृषि को वृहत पैमाने पर अनुदान देते हैं। कुछ अन्य संपन्न देशों के साथ इनका सालाना अनुदान 300 अरब डालर से अधिक होता है। यह करीब चौदह लाख करोड़ रुपया हुआ जो भारत की राष्ट्रीय आय से अधिक है। इसी से अंदाज लगाया जा सकता है कि विकसित देशों में कृषि में अनुदान की मात्रा कितनी ज्यादा है। इस पृष्ठभूमि में भारत में कृषि में अनुदान पर नियंत्रण रखने की चर्चा हास्यास्पद लगती है। इस संदर्भ में यह भी ध्यान में रखना है कि विकसित देशों में कृषि से जुड़े लोगों की संख्या बहुत छोटी है—पूरी जनसंख्या के पाँच प्रतिशत के आसपास जबकि भारत में यह सत्तर प्रतिशत के लगभग है। हमें यह भी ध्यान में रखना है कि भारत की आबादी सभी संपन्न औद्योगिक देशों की आबादी से कुछ अधिक ही होगी। इसका अर्थ यह है कि भारत के कुल किसानों की संख्या के पाँच प्रतिशत लोग ही जो इन देशों में कृषि में लगे हैं इस

विशाल मात्रा में अनुदान से लाभान्वित होते हैं। भारत की चिंता सिर्फ यह रही है कि निर्यात करने वाले संपन्न देशों के दबाव में अगर कृषि उत्पादों के अपने आंतरिक बाजार को खोल देना हुआ तो भारत में आयातित कृषि आधारित उत्पाद इतना सस्ता हो जाएगा कि अपने देश की खेती-बाड़ी चौपट हो जाएगी। भारत बड़ा निर्यातक नहीं है। अभी भी दुनिया के व्यापार में इसका हिस्सा एक प्रतिशत से कम है। ऐसे में विश्व व्यापार संगठन में बने रह कर इसकी शर्तों से बँधने की भारत की आतुरता समझ से परे है।

अंतर्राष्ट्रीय स्पर्धा की पृष्ठभूमि में कृषि का जो अर्थ औद्योगिक देशों में है वह हमारे यहाँ से बिल्कुल भिन्न है। उनकी कृषि में लगे लोग सही अर्थ में किसान नहीं हैं बल्कि ऐसे उत्पादक हैं जो धरती के जीवन को नष्ट करके ही उत्पादन करते हैं। अनुदान की भारी मात्रा इसलिए उनके लिए आवश्यक हो जाती है। प्रति इकाई जमीन के हिसाब से उनका उत्पादन भी बहुत नहीं है। कृषि उत्पादकों की बड़ी आय या तो विशाल जोतों से आती है या अनुदान से। भारत के किसानों की औसत जोत दो से पाँच एकड़ तक की होती है। इसके विपरीत अमेरिका, ब्रिटेन आदि में जोतों का आकार सैकड़ों और हजारों एकड़ तक होता है।

अगर उत्पादन का स्तर समान हो तो सिर्फ जोतों के आकार के आधार पर एक अमेरिकी कृषि उत्पादक की आय भारतीय किसान से सैकड़ों या हजारों गुना अधिक होगी। पाँच एकड़ जोत वाला किसान अगर प्रति एकड़ हजार रुपये का लाभ पाता है तो उसकी कुल आय पाँच हजार रुपये होगी। इसके विपरीत इसी स्तर की उपज वाले अमेरिकी किसान की आय, जिसकी जोत 500 एकड़ की है, पाँच लाख रुपये होगी। ऐसी स्थिति में अमेरिकी उत्पादक के लिए अपने उत्पाद की कीमत को कम रख कर भी जिंदा रहना संभव होगा जो भारतीय किसान के लिए संभव नहीं है।

जब हम इन तथ्यों पर विचार करते हैं तो इस बात से अचरज होने लगता है कि इतनी बड़ी जोतों वाले अमेरिकी उत्पादकों को भारी अनुदान की जरूरत क्यों होती है। इसका राज यह है कि अभी तक भारतीय किसान जो भी पैदा करता है वह धरती की उर्वरा शक्ति के आधार पर और इसमें अपने और बैल जैसे पशुओं की ऊर्जा का इस्तेमाल करके। यह बात अलग है कि नयी उन्नत कृषि के आने से अब इसमें परिवर्तन हुआ है और ट्रैक्टर, उर्वरक और कीटनाशकों का प्रवेश बड़े पैमाने पर होने लगा है। अमेरिकी उत्पादक अपने विशाल फार्मों पर जितनी ऊर्जा खर्च करता है उससे कम ही मूल्य का उत्पाद हासिल कर पाता है क्योंकि धरती का योगदान उस उत्पादन प्रक्रिया में घटता जा रहा है या घटाया जा रहा है। जेरेमी रिफ्किन ने अपनी बहुचर्चित पुस्तक 'इंट्रोपी' में दो तरह की खेती का नीचे उद्धृत

तुलनात्मक विवरण दिया है।

एक साधारण किसान आमतौर से एक कैलोरी ऊर्जा खर्च कर दस कैलोरी के मूल्य की उपज प्राप्त करता है। अब यह एक आम जानकारी है कि आयोवा का एक काश्तकार मनुष्य की प्रति कैलोरी ऊर्जा के बदले 6000 कैलोरी ऊर्जा के बराबर का उत्पाद प्राप्त करता है लेकिन उसकी सारी क्षमता एक भ्रम है जब हम उस सारी ऊर्जा पर विचार करते हैं जिसे इस उत्पादन प्रक्रिया में खर्च किया गया है। सिर्फ एक डब्बा अनाज पैदा करने में, जिसमें 270 कैलोरी ऊर्जा है, इस काश्तकार को 2,790 कैलोरी खर्च करनी पड़ती हैं जो मुख्य रूप से फार्म की मशीनों, रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशकों के रूप में खर्च की जाती है। इस तरह अमेरिकी किसान प्रत्येक कैलोरी पैदा करने में 10 कैलोरी ऊर्जा की खपत करता है।

इस तरह की खेती के परिणामस्वरूप, रिफ्किन के अनुसार, "...जैसे-जैसे अमेरिका में खेती में ऊर्जा की कीमत आसमान छूने लगी है छोटे पारिवारिक काश्तकार शब्दशः खेती से बाहर धकेल दिए गए हैं और उनका स्थान खेती व्यवसाय में लगे कारपोरेशनों ने ले लिया है। आज उनतीस कारपोरेशनों का अमेरिका की 29 प्रतिशत खेती की जमीन पर अधिकार है। सिर्फ बड़े कारपोरेशन ही आज की मशीनीकृत ऊर्जा आधारित खेती के खर्च का बोझ उठा सकते हैं।"

जापान में, जहाँ खेती के योग्य भूमि कम है और किसानों को पाँच-छह एकड़ की छोटी जोतों पर खेती करनी होती है, किसानों को खेती में लगाए रखने के लिए न सिर्फ भारी अनुदान की जरूरत होती है बल्कि देश के भीतर अंतर्राष्ट्रीय कीमतों से कई गुना अधिक कीमत उन्हें उनकी उपज के लिए दी जाती है। जापान, अमेरिका के बाद दुनिया का सबसे संपन्न औद्योगिक देश है, उसके लिए अपने किसानों को भारी अनुदान देकर खेती में रखना संभव होता है। लेकिन यह प्रतिमान दुनिया की औद्योगिक दृष्टि से पिछड़ी अर्थव्यवस्थाएँ नहीं अपना सकतीं।

ऊपर की बातों पर विचार करने से यह बात आसानी से समझ में आती है कि भारत कृषि के अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के चालू विवाद में क्यों अप्रासंगिक है। लेकिन इस स्थिति के और भी दूरगामी निहितार्थ हैं। भारत अपनी बहुसंख्यक आबादी को कंगाली की स्थिति में झोंके बिना आज की भूमंडलीकृत व्यवस्था में शामिल नहीं हो सकता। इस देश में भी पश्चिमी देशों की नकल में कृषि में औद्योगिक प्रतिष्ठानों के प्रवेश की वकालत की जा रही है। इसको संभव बनाने के लिए भू-हदबंदी कानूनों को ढीला करने की भी वकालत की जा रही है। लेकिन जमीन से विस्थापित ऐसे दसों

करोड़ किसानों का क्या होगा, यह कोई नहीं सोचता। वैज्ञानिक दृष्टि से, जैसा कि ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है, पारंपरिक खेती ही श्रेष्ठ है और लागत और आय के अनुपात को देखते हुए सबसे किफायती भी।

अब हम इस बात को नजरअंदाज नहीं कर सकते कि जहाँ पारंपरिक खेती प्रकृति से साहचर्य पर आधारित है, नयी औद्योगिक खेती पर्यावरण को नष्ट करने वाली है। पश्चिमी देशों में नयी खेती उनकी मजबूरी इसलिए बन गई है क्योंकि खेतिहरों को औद्योगिक और सेवा क्षेत्रों की ऊँचाई का जीवन स्तर प्रदान करने के लिए उन्हें खेती को बड़े औद्योगिक फार्म में तब्दील करना होता है। भारत अभी तक इस दुश्चक्र में नहीं फँसा है। यह अभी भी पारंपरिक जीवनशैली के तहत खेती और बाकी क्षेत्रों के बीच संतुलन बना सकता है। लेकिन इसके लिए विश्व बाजार से बँधने की बजाय हमें स्वायत्त अर्थव्यवस्था बनाने की दिशा में पहल करनी होगी।

छँटनी की होड़

दुनिया के सात सबसे संपन्न देशों में एक इटली और दुनिया के दरिद्रतम देशों में एक भारत—दोनों में अप्रैल 2002 में एक ही समय एक ही सवाल पर मजदूरों की राष्ट्रव्यापी हड़तालें हुईं। इसके गंभीर निहितार्थ हैं। दोनों ही जगह मजदूर औद्योगिक प्रतिष्ठानों के 'हायर एंड फायर' के अधिकार यानी मजदूरों को व्यवस्था की सुविधा के अनुसार काम से निकाल देने के अधिकार के खिलाफ रोष प्रकट कर रहे थे। यह भूमंडलीकरण का करिश्मा है कि सबसे गरीब और सबसे अमीर दोनों ही तरह के देशों को वैश्विक प्रतिस्पर्धा में टिक पाने के लिए अपने को पूरी तरह निचोड़ डालने की मजबूरी हो गई है। विश्व व्यापार संगठन के प्रावधानों के तहत अब कोई भी देश दूसरे देशों से वस्तुओं के आयात को प्रतिबंधित नहीं कर सकता या इन पर एक हद के ऊपर सीमा शुल्क नहीं लगा सकता। इसका अर्थ हुआ कि प्रत्येक देश के अपने उद्योगों की क्षमता इतनी होनी चाहिए कि आयातित वस्तुओं को अपने देश में प्रतिस्पर्धी देश जितने या उससे कम खर्च पर उत्पादित कर सकें। अगर वह ऐसा नहीं कर पाता है तो उसका कर्तव्य होता है कि अपने देश के उद्योगों को चुपचाप मर जाने दे और किसी तरह के सरकारी अनुदान से उन्हें जिंदा रखने का प्रयास न करे। इससे कृषि, उद्योग और सेवा सभी क्षेत्रों में दो तरह की आत्यंतिक प्रतिस्पर्धाएँ पैदा हो गई हैं—एक प्रतिस्पर्धा विभिन्न देशों के उद्योगों के बीच और दूसरी हर देश के अपने ही उद्योगों के बीच।

इस तरह किसी देश के उद्योगों में वे ही उद्योग टिक पाएँगे जो देश के बाकी उद्योगों से ज्यादा सक्षम होंगे और वे ही देश प्रतिस्पर्धा में टिक पाएँगे जहाँ के उद्योग दुनिया के दूसरे देशों के उद्योगों की क्षमता का मुकाबला कर पाएँगे। इस प्रतिस्पर्धा में अगर विभिन्न प्रतिष्ठानों में तकनीक का स्तर समान हो तो अपनी औद्योगिक वस्तुओं को सस्ता रखने के लिए मजदूरों पर होने वाले खर्च पर कटौती जरूरी होती है। और इसका सबसे सहज तरीका है मजदूरों की छँटनी कर काम का बोझ बढ़ा देना। साल भर के भीतर जर्मनी की अति सक्षम कंपनी सीमेंस ने एक बार दस हजार और फिर अभी अप्रैल 2002 में छह हजार यानी सोलह हजार मजदूरों की

छँटनी कर दी है। सीमेंस कंपनी पर यह आरोप नहीं लगाया जा सकता कि उसमें देह चोर मजदूरों को भर दिया गया था। दरअसल प्रतिस्पर्धा के वैश्विक हो जाने से सभी प्रतिष्ठानों के सामने अपने उत्पादन को सक्षमतर प्रतिस्पर्धी के स्तर पर लाने की मजबूरी बन जाती है, और चूंकि सभी ऐसा ही कर रहे होते हैं, छँटनी का दौर कभी समाप्त नहीं होता। यहीं से 'हायर एंड फायर' के दर्शन का जन्म होता है जो संसार भर के औद्योगिक प्रतिष्ठानों का आदर्श बन गया है।

हमारे देश में श्रम की उत्पादकता को लेकर एक बड़ा भ्रम फैला हुआ है। इसके अनुसार हमारे यहाँ मजदूरों में कार्यक्षमता का अभाव सिर्फ काहिली का परिणाम है। इसी को देश में उत्पादकता कम होने का कारण माना जाता है। इसी से 'डंपिंग' संभव होना माना जाता है। यह समझा जाता है कि जिन देशों में मजदूर ईमानदारी से काम करते हैं वहाँ उत्पादन खर्च और इससे उत्पादों की कीमत कम होती है। इससे वे हमारे उद्योगों के लिए चुनौती बन जाते हैं। पर यह सरलीकृत धारणा है। दरअसल मजदूरों की उत्पादकता पर तीन कारकों का प्रभाव पड़ता है। सबसे व्यापक कारक प्राकृतिक और सांस्कृतिक परिवेश की भिन्नता है। अत्यधिक गर्मी वाले प्रदेशों में आदमी के काम की क्षमता पर स्वतः एक सीमा लग जाती है जिससे बिना ताप-नियंत्रण के निजात नहीं मिल सकती। लेकिन ताप-नियंत्रण के उपाय उद्योगों को अति खर्चीला बना देंगे। ऐसे प्राकृतिक परिवेश के अलावा सांस्कृतिक परिवेश का भी प्रभाव काम करने की क्षमता पर पड़ता है। पारंपरिक समाजों में जीवन की लय सूरज, चाँद और ऋतुओं से निर्धारित होती है। पारंपरिक उद्योग और कृषि में काम की गति और समय इसी लय से निर्धारित होते हैं। इस पारंपरिक परिवेश से निकल कर जब नयी तरह के उद्योगों में श्रमिकों को घड़ियों के बंधन में काम करने में लगाया जाता है तो एक आंतरिक अवरोध पैदा होता है जो उत्पादकता को प्रभावित करता है।

यह समस्या प्रारंभ में उन देशों में भी हुई थी जो अब आधुनिक औद्योगिक देश बन गए हैं। वहाँ एक सुविधा यह थी कि लोगों की जीवन पद्धति और औद्योगिक तकनीक, दोनों में बदलाव धीरे-धीरे दो सदियों तक होता रहा। हमारे यहाँ एकाएक नवीनतम मशीनों को ऐसे लोगों पर लादा जा रहा है जो पारंपरिक जीवन पद्धति से बँधे रहे हैं। इसीलिए 'काम की संस्कृति' की वह समस्या चारों ओर दिखाई देती है जिस पर अर्थशास्त्री और व्यवस्था विशेषज्ञ रोज अपना रोष प्रकट करते रहते हैं और श्रम कानूनों में हेरफेर से मजदूरों को सीधा करने का सुझाव देते हैं। औद्योगिक देशों में तो बढ़ती स्पर्धा के कारण अब स्थिति ऐसी बन गई है कि प्रतिष्ठानों में काम करने वाले लोगों के लिए विशेषकर उन लोगों के लिए जो शीर्ष स्थानों पर हैं—प्रतिष्ठानों

के बाहर कोई जिंदगी नहीं होती। जापान, जहाँ की औद्योगिक व्यवस्था योग्यतम मानी जाती रही है, में यह एकात्मकता इस सीमा तक पहुँच गई है कि प्रतिष्ठानों की असफलता पर बड़ी संख्या में प्रतिष्ठानों के व्यवस्थापक आत्महत्या कर लेते हैं। दरअसल यहाँ मामला जीवन पद्धतियों के बीच चयन का बन गया है।

दूसरा कारक तकनीक यानी मशीनों की श्रेष्ठता का है। अगर मशीन पुराने ढंग की और कम क्षमता वाली हैं तो मजदूर चाहे जान लगा दें, अच्छा या अधिक उत्पादन नहीं दे सकते। इसी से विकसित औद्योगिक देशों में श्रम की श्रेष्ठता दिखाई देती है। चूंकि उन देशों में तकनीक का एक ऊँचा धरातल कायम हो चुका है और पूँजी की प्रचुरता है इसलिए शोध पर भारी खर्च कर सदा नयी मशीनें विकसित की जाती हैं। इससे उत्पादन भी बढ़ता है और उत्पादित वस्तुओं की गुणवत्ता भी बढ़ती है। यहाँ भारत जैसे औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े देशों के लिए प्रतिस्पर्धा में टिकने की कोई संभावना नहीं होती। इस कारण इस बात का दबाव बढ़ता है कि नवीनतम तकनीक आयातित हो। लेकिन जब तक नयी तकनीक आयातित होती है, तकनीक देने वाले विकसित औद्योगिक देशों में तकनीक और आगे निकल चुकी होती है। यह एक दुश्चक्र है जिससे तीसरी दुनिया के उद्योग कभी निकल नहीं पाते। इसका जवाब होता है कि विदेशी कंपनियों को अपनी उत्पादन व्यवस्था को पूरा का पूरा अधिग्रहीत कर लेने का निमंत्रण। इसके लिए उनकी सारी ज्यादती भरी शर्तों को कबूल किया जाता है।

तीसरा कारक है उत्पादन पद्धति का संयोजन। एक ही तरह की तकनीक में काम को समुचित ढंग से संयोजित करने से उत्पादन क्षमता को एक हद तक परिवर्धित किया जा सकता है और मजदूरों की संख्या को घटाया जा सकता है। अत्यधिक प्रतिस्पर्धा के बीच विकसित औद्योगिक देशों में अपने औद्योगिक कार्यों के संयोजन में इसी तरह के फेरबदल रोज हो रहे हैं जिससे मजदूरों की छँटनी होती है। यह तब भी होता है जब दो विशाल कंपनियों का विलय होता है। व्यवस्था को एक शास्त्र का रूप देने की कोशिश उत्पादन और विपणन प्रक्रिया को इसी दिशा में अधिक चुस्त बनाने के लिए हो रही है। इटली में इस तरह की छँटनी का जबर्दस्त विरोध इसलिए होता है कि वहाँ उत्तर और दक्षिण की स्थितियाँ भिन्न हैं। दक्षिण अब भी पिछड़ा और पारंपरिक है और इटली के जीवन पर अपनी छाप छोड़ता है। उत्तरी इटली आधुनिक है। इससे जीवन को झकझोरने वाली नयी आर्थिक नीतियों का दूसरे औद्योगिक देशों की तुलना में ज्यादा तेज विरोध होता है।

फिलहाल औद्योगिक छँटनी और खर्च में कटौती का जो सिलसिला चल रहा है उसमें सर्वाधिक सक्षम उद्योग ही अपना अस्तित्व बचा पाएँगे। पूँजीवाद के प्रारंभ से ही प्रतिस्पर्धा का यह सिलसिला जारी था। लेकिन जब तक उद्योगों की प्रतिस्पर्धा को नियंत्रित करने में राष्ट्रीय सरकारों का हाथ रहा, इस प्रतिस्पर्धा में देश के भीतर

के कमजोर उद्योग खत्म होते थे और अपेक्षतया सक्षम उद्योग बच जाते थे। राष्ट्रीय सरकारें अपने देश के उद्योगों को बाहरी प्रतिस्पर्धा से बचाने का यथासंभव प्रयास करती थीं। अब विश्व व्यापार संगठन की देखरेख में वैश्विक प्रतिस्पर्धा को सुनिश्चित करने का जो सिलसिला चालू हो गया है, प्रत्येक देश के उद्योगों को क्षमता के अंतर्राष्ट्रीय मानकों के अनुसार इस होड़ में शामिल होना होता है। इसलिए उन देशों के उद्योग, जो प्राकृतिक असुविधा या ऐतिहासिक कारणों से इस होड़ में टिक नहीं पाते, हाशिए पर डाल दिए जाते हैं।

इस प्रक्रिया का अंतिम नतीजा क्या होगा, देखना मुश्किल नहीं है। इसमें कुछ सर्वाधिक सक्षम उद्योगों को छोड़ बाकी बंद हो जाएँगे। इससे विश्व भर में संगठित उद्योगों में काम करने वाले लोगों की संख्या घटती चली जाएगी। जब दुनिया की आबादी तेजी से बढ़ रही हो (कुछ अति संपन्न देशों को छोड़), संगठित क्षेत्रों के उद्योगों की काम देने की क्षमता में सिकुड़न विपन्नता की असहनीय स्थितियाँ पैदा करेगी। औद्योगिक और गैर-औद्योगिक दोनों ही तरह के देशों में इस प्रक्रिया के दुष्परिणाम दिखाई देने लगे हैं। संपन्न औद्योगिक देशों में बेरोजगारी की मार नस्लवादी आक्रामकता में बदल रही है। हाल में फ्रांस में राष्ट्रपति के चुनाव में नस्लवादी ज्यां मैली ल' पेन का समाजवादी प्रत्याशी को पीछे छोड़ कर जाक शिराक के मुकाबले में आ जाना इसी फासीवादी उभार की अभिव्यक्ति है। यह खतरा इतना स्पष्ट है कि फ्रांस में इसके विरोध में बड़े प्रदर्शन हुए हैं। पूरे यूरोप में इसके विरोध में आवाज उठी है। लेकिन यह सब विरोध बीमारी के लक्षण से है। इसके बुनियादी कारणों की ओर किसी का ध्यान नहीं है।

पिछड़ी अर्थव्यवस्थाओं में नये उद्योगों की प्रतिस्पर्धा से पारंपरिक उद्योग धंधे पहले से ही बंद हो रहे थे, जिससे व्यापक बेरोजगारी फैली है। अब नये उद्योगों में छँटनी से बेरोजगारी की स्थिति असहनीय हो रही है। चूंकि नयी तरह के उद्योगों में आय और काम की सुविधाएँ इससे बाहर रह रहे लोगों की तुलना में बहुत अधिक होती हैं, इन उद्योगों में छँटनी प्रभावित लोगों के लिए भयावह आपदा है। उन्हें देश की विपन्नता के उस विशाल कबाड़खाने में डाल दिए जाने का भय है जहाँ से बाहर निकल पाना विरल संयोग है।

इस प्रतिस्पर्धा से बाहर हस्तकला पर आधारित पारंपरिक घरेलू और कुटीर उद्योग ही हैं जो सारी उपेक्षाओं के बावजूद दुनिया के बाजार में भारत के लिए धन अर्जित करते हैं, लेकिन स्वयं देश में वे तिरस्कृत होते रहते हैं। इन उद्योगों में लगे लोगों की आय इतनी कम और देशवासियों में उनकी उत्पादित वस्तुएँ इतनी उपेक्षित हैं कि धीरे-धीरे ये उद्योग खत्म होते जा रहे हैं। आधुनिक व्यवस्था में इस तरह बेरोजगार

होते लोगों का क्या होगा, जिनकी तादाद बेतहाशा बढ़ती जा रही है? कोई अर्थशास्त्री अब इस समस्या की ओर देखना भी नहीं चाहता क्योंकि वह जानता है कि इस व्यवस्था में आदमी स्वयं उपयोग की वस्तु (मानव संसाधन) है जिसे इस्तेमाल कर उच्छिष्ट वस्तु की तरह फेंक देना ही अर्थशास्त्र का मान्य सिद्धांत है। मरे हुए आदमी का 'रीसाइकिल' भी नहीं होता।

दूसरी दुनिया का नक्शा कहाँ है

मीडिया और इसके बाहर बहुचर्चित विश्व सामाजिक मंच का सोलह से इक्कीस जनवरी तक का कार्यक्रम बैठकों, चर्चाओं और प्रदर्शनों की गहमागहमी के बीच समाप्त हो गया। भूमंडलीकरण के दारुण परिणामों के बीच इसकी यह घोषणा कि एक बेहतर दुनिया संभव है संसार के अनेक राजनीतिक और गैरराजनीतिक, सामाजिक समूहों के लिए काफी आकर्षक थी। यह समागम इस तरह के अनेक समूहों और व्यक्तियों का मिलन बिंदु बना रहा जो बेहतर दुनिया चाहते हैं। नर्मदा बचाओ आंदोलन की मेधा पाटकर और बुकर पुरस्कार विजेता अरुंधति राय के अलावा शांति के नोबल पुरस्कार से सम्मानित ईरान की शीरीं इबादी की इसमें शिरकत और अर्थशास्त्र के लिए नोबल पुरस्कार से नवाजे गए जोसेफ ई स्टिग्लित्स के नाम का इस आयोजन से जुड़ा होना इसे काफी गरिमामंडित करता रहा।

लेकिन पारस्परिक सदिच्छाओं के आदान-प्रदान और संसार के विविध समूहों से संवाद की संभावना जैसी अच्छी बातों के अलावा अपने घोषित उद्देश्य की दृष्टि से इस आयोजन की उपलब्धि कुछ विशेष नहीं दिखाई देती। इस मंच के समापन के एक दिन बाद तेईस जनवरी से दावोस में विश्व आर्थिक मंच की बैठक हुई जिसे भूमंडलीकरण के विरोधियों द्वारा बाधित करने की कोशिश होती रही है क्योंकि इस मंच का नाम भूमंडलीकरण की मौजूदा नीतियों को चलाने के साथ जुड़ा है। फिलहाल इन दोनों परस्पर विरोधी उद्देश्यों को लेकर चलने वाले मंचों का आयोजन और दूसरे मंच का विरोध एक वैश्विक रुटीन में बदलता जा रहा है।

आज की स्थिति में भूमंडलीकरण के विकल्प पर कोई गंभीर चर्चा हुई हो, ऐसा नहीं दिखाई देता। इसके समांतर इस मंच के विरोध में इसी के उद्देश्यों को लागू करने में अधिक सही नीति लेकर चलने का दावा करने वाला एक दूसरा आयोजन मुंबई में ही 'जन प्रतिरोध' के नाम से हो रहा था। मगर यहाँ से भी कोई स्पष्ट नीति निकलती नहीं दिखाई देती। जहाँ नरमपंथी से लेकर चरमपंथी तक सभी तरह के वामपंथी इकट्ठा हों वहाँ शब्दों का बवंडर तेज हो यह अनिवार्य था। पर इस बवंडर के बाद सब कुछ के अपनी निर्धारित नीति पर ही चलने का अंदेशा बना रह जाता है।

इस आयोजन के दौरान ब्राजील के राष्ट्रपति लुला की नीतियों की भी आलोचना हुई जिनकी कुछ भूमिका शुरू में इस मंच के ब्राजील के पोर्ते एलेग्रे में आयोजन के पीछे थी। शायद यह आलोचना कुछ जल्दबाजी में की गई हो। क्योंकि कोई सरकार जो बगावत से सत्ता पलट कर नहीं बनी हो साल भर के भीतर संसार भर के वित्तीय संस्थानों से किए गए पुराने अनुबंधों को खत्म कर एक नयी शुरुआत नहीं कर सकती। इस सरकार की नीतियों की दिशा को समझने के लिए कुछ और समय देना जरूरी था। लेकिन प्रश्न है कि एक सामाजिक मंच जिसकी कोई अपनी बनी-बनाई नीति नहीं है और जो न तो ऐसी एकीकृत नीति बनाने को प्राथमिकता देता है क्या किसी सरकार की आलोचना करने का हकदार है? 'भूमंडलीकरण' अपने आप में बहुत कुछ नहीं कहता। एक बेहतर दुनिया बनाने की योजना भी तो किसी खास तरह के विश्व की कल्पना पर ही आधारित होगी। यानी एक योजना जिसके तहत दुनिया की व्यवस्था दूसरी तरह से चले। सिर्फ निषेध कोई नीति नहीं बन सकता। निषेध के आगे किसी विधायक तस्वीर का होना भी जरूरी लगता है।

कहा जाता है कि प्रकृति शून्य से बचती है। यही बात समाज के साथ भी लागू है। कोई समाज अधिक दिनों तक बिना किसी व्यवस्था के नहीं चल सकता। समाज स्थायी अराजकता का महोत्सव बना नहीं रह सकता। अगर विश्व सामाजिक मंच अपनी ओर से किसी वैकल्पिक दुनिया की रूपरेखा प्रस्तुत नहीं कर सकता तो दूसरे लोग यह काम करेंगे या किसी विकल्प के अभाव में लोग भूमंडलीकरण की वर्तमान स्थिति को ही कबूल कर लेंगे। फिलहाल दुनिया की अधिकांश सरकारें और ज्यादातर लोग तो भूमंडलीकरण को चाहे वह कितना ही डरावना क्यों न हो, तकदीर की लकीर की तरह कबूल कर लेंगे। जोसेफ स्टिग्लित्स का नाम भी इस आयोजन से जुड़ा है। स्टिग्लित्स दुनिया की अर्थनीति बनाने वाले सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठानों से जुड़े रहे हैं। संभव है किसी दूसरी दिशा सूचिका के अभाव में लोग उनके विचारों को ही एक विश्वसनीय विकल्प के रूप में देखें। इसलिए वर्तमान भूमंडलीकृत व्यवस्था के संदर्भ में उनकी दृष्टि पर विचार करना भी जरूरी लगता है। चूंकि 2002 में इसी विषय पर प्रकाशित उनकी पुस्तक व्यापक चर्चा का विषय बन गई है, इसलिए इसमें प्रस्तुत विचारों का आकलन जरूरी है।

उनकी पुस्तक 'ग्लोबलाइजेशन एंड इट्स डिस्कंटेंट्स' बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में सिग्मंड फ्रायड द्वारा लिखी गई पुस्तक 'सिविलाइजेशन एंड इट्स डिस्कंटेंट्स की याद दिलाती है। फ्रायड ने सभ्यता के भीतर के व्यापक असंतोष के लिए, जिससे संघर्ष और युद्ध पैदा होते हैं, मानव स्वभाव में निहित मृत्यु कामना (थानाटोज) को चिह्नित किया था जिसकी अभिव्यक्ति उसके अनुसार समूहों के बीच व्यापक आक्रामकता

में होती है। स्टिग्लित्स ने वर्तमान भूमंडलीय व्यवस्था के संकटों के लिए अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष, विश्व बैंक और अमेरिकी सरकार की कुछ आर्थिक नीतियों को चिह्नित करने की कोशिश की है। उसके अनुसार संसार भर के लिए तीन अटल सिद्धांत इनकी नीतियों के केंद्र में हैं—खर्च में कटौती, निजीकरण और बाजार का खुलापन। इन संस्थाओं के शीर्ष पर बैठे लोग दुनिया के उन देशों की जमीनी हकीकत को देखे बगैर इन अटल मान्यताओं से नीतियों को इस तरह लागू करते रहे हैं जिससे नतीजे इच्छित उद्देश्य के ठीक उलटे हुए। पूर्वी एशिया के 1997 के आर्थिक संकट के संदर्भ में थाईलैंड, दक्षिण कोरिया, इंडोनेशिया और मलेशिया का उदाहरण देकर बताया गया है कि अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष की नीतियों को लेकर चलने से ही वहाँ की मंदी घोर संकट में बदल गई। मंदी का सबसे कम असर मलेशिया पर पड़ा जहाँ प्रधानमंत्री महातिर ने कोष की नीतियों की अनदेखी कर अपनी स्थानीय स्थिति के हिसाब से व्यवस्था को सँभालने की कोशिश की।

वैसे ही पूर्वी यूरोप के पहले के कम्युनिस्ट देशों के उदाहरण देकर बताया गया है कि इन देशों की अर्थव्यवस्था के थोड़े ही समय में ध्वस्त हो जाने के पीछे अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष द्वारा चलाई जाने वाली नीतियों का मुद्राकोष के दबाव में पालन करना था। अफ्रीका के देशों में भी मुद्राकोष की नीतियाँ स्थिति को सँभालने की बजाय बिगाड़ने की ही रहीं। रूस के मामले में तो स्टिग्लित्स के अनुसार वहाँ के सार्वजनिक क्षेत्र के निजीकरण का नतीजा उनकी विशाल निधि को ऐसे लोगों के हाथों में डाल देना हुआ जो उससे प्राप्त धन को सीधा विदेशी बैंकों में अपने निजी खातों में डालते रहे। यह वहाँ की संपदा की भयंकर लूट थी।

पूँजी की आवाजाही को अनियंत्रित करने के सुझाव पर स्टिग्लित्स एक अर्थशास्त्री की दृष्टि से यह टीका करते हैं, ''आँकड़े बताते हैं कि पूँजी की आवाजाही व्यापार चक्र को गहराने का काम करती है यानी मंदी के काल में पूँजी संबद्ध देश को छोड़कर बाहर निकल जाती है, ठीक उसी समय जब देश में उसकी सबसे अधिक जरूरत होती है, और अंदर तब आती है जब अर्थव्यवस्था में उछाल रहता है जिससे मुद्रास्फीति बढ़ती है।'' पूँजी की आवाजाही पर छूट और वित्तीय संस्थाओं में विदेशी कंपनियों को आमंत्रित करने की वकालत करने वाले हमारे अर्थशास्त्रियों को भी इससे नसीहत लेनी चाहिए। जिन लोगों को स्वतंत्र व्यापार और पश्चिम देशों की इसके प्रति प्रतिबद्धता में भरोसा है उन्हें अमेरिकी राष्ट्रपति के आर्थिक सलाहकार मंडल का अध्यक्ष रहे इस अर्थशास्त्री के इस निष्कर्ष पर ध्यान देना चाहिए ''...लेकिन अमेरिका के अनुचित व्यापार कानून किसी आर्थिक सिद्धांत के आधार पर नहीं लिखे जाते हैं। उनके अस्तित्व का एकमात्र मकसद होता है आयात से प्रभावित होने वाले अमेरिकी उद्योगों को

सुरक्षा प्रदान करना।''

अपने अनुभवों के बावजूद स्टिग्लित्स को ऐसा लगता है कि अगर अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष और विश्व बैंक की नीतियाँ कुछ भिन्न होतीं तो दुनिया को कई वित्तीय संकटों से उबारा जा सकता था और विकासशील अर्थव्यवस्थाओं का सही विकास हो सकता था। एक ऐसे अर्थशास्त्री के लिए, जो बुनियादी रूप से पूँजीवादी अर्थव्यवस्था को कबूल करता है, ऐसा आशावादी होना अचरज में डालने वाला नहीं है। लेकिन अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष और विश्व बैंक की नियुक्तियों का जैसा विवरण वह स्वयं देता है वह इस संभावना को खारिज करने वाला है कि ये संस्थाएँ कुछ भी ऐसा कर सकती हैं जो मूलतः पिछड़ी अर्थव्यवस्थाओं के हित को ध्यान में रखे। वह स्वयं लिखता है, ''...जबकि विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के लगभग सभी कार्यक्रम वर्तमान समय में विकासशील देशों में चलाए जाते हैं (लगभग कर्ज देने के सभी कार्यक्रम) इनका नेतृत्व औद्योगिक देशों के प्रतिनिधियों के हाथ में होता है। परिपाटी के चलते या अलिखित सहमति से अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष का प्रमुख सदा कोई यूरोपीय होता है और विश्व बैंक का सर्वोच्च पदाधिकारी कोई अमेरिकी। उनका चयन बंद दरवाजे के भीतर होता है और यह भी जरूरी नहीं माना जाता कि शीर्ष पद के व्यक्ति को विकासशील देशों में काम करने का कोई अनुभव हो।'' प्रायः विशाल निजी कंपनियों में कार्यकारी रह चुके लोग बेरोकटोक इन वित्तीय संस्थाओं में नियुक्तियाँ पाते रहते हैं या फिर यहाँ से वापस किसी बड़ी निजी कंपनी में प्रवेश पा जाते हैं। यह सब बताता है कि अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को नियंत्रित करने वाली ये संस्थाएँ किस तरह अमेरिकी पूँजीवादी प्रतिष्ठान के साथ अंतर-गुंफित होती हैं। इनसे किसी निष्पक्ष नीति की उम्मीद करना असंभव की चाहत है।

इस संदर्भ में दो बातें ध्यान में रखने की हैं। एक तो यह कि पूँजीवाद के समर्थक, समाजवादी कही जाने वाली व्यवस्थाओं की इस बात को लेकर विशेष रूप से आलोचना करते थे कि किसी एक केंद्र से नियोजित व्यवस्थाएँ स्थानीय रूप से यानी निचले स्तरों पर उठने वाली समस्याओं का सही आकलन कर उनके निराकरण में सदा अक्षम होंगी। यह बात सही लगती है। लेकिन यही बात दुनिया की अर्थव्यवस्था को निर्देशित करने वाली किसी अंतर्राष्ट्रीय केंद्र की उपयोगिता को भी खारिज करती हैं। स्टिग्लित्स ने अफ्रीका और एशिया के अपने प्रत्यक्ष अनुभवों से भी यही बताया है कि जनता के हितों को ध्यान में रखकर चलने वाली स्थानीय सरकारें स्थिति का आकलन कर जरूरत के हिसाब से उचित नीतियाँ बनाने में अधिक कारगर साबित होती हैं। यह हकीकत अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर काम करने वाले सभी तरह के आर्थिक प्रतिष्ठानों की सक्षमता को संदेह के घेरे में ला देती है। यह बात सिर्फ विश्व बैंक

या अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष पर लागू नहीं होती बल्कि निजी क्षेत्र की विशाल कंपनियों के साथ भी लागू होती है। एनरॉन, आर्थर एंडरसन और मेरिल लिंच जैसी कंपनियों के घोटाले यही सिद्ध करते हैं।

दरअसल विशाल बहुराष्ट्रीय कंपनियों के भीतर लगातार भारी घोटाले होते रहते हैं। लेकिन पारदर्शिता के अभाव में उनकी जानकारी तभी हो पाती है जब किसी बड़ी कंपनी के दिवालिया होने पर तथ्य सामने आते हैं। दरअसल बेहतर विश्व की कामना करने वाले लोगों को इन तथ्यों पर ध्यान देना चाहिए। अगर वे ऐसा करेंगे तो अनिवार्य रूप से इस निष्कर्ष की ओर मुड़ेंगे कि बेहतर दुनिया बनाने के लिए निजी लाभ को सर्वोच्च देवता मानकर चलने वाली पूँजीवादी व्यवस्था की जगह, सहयोग और स्वायत्तता पर आधारित छोटी आर्थिक-राजनीतिक इकाइयाँ ही, जिन पर जनगण का अपना नियंत्रण हो, एक खुशहाल दुनिया का आधार बन सकती हैं। लेकिन तब फिर एक नतीजा यह भी निकलता है कि यह काम प्रचार की धुंध का निर्माण करने वाले दिशाहीन मंचों द्वारा नहीं होगा बल्कि स्थानीय स्तर पर लोगों से जुड़े जमीनी कार्यकर्ता और उनके संगठन ही यह कर सकते हैं।

विकास नीति और पर्यावरण

संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्त्वावधान में दिल्ली में होने वाले पर्यावरण सम्मेलन पर अमेरिकी नकार शुरू से ही मौत की छाया की तरह बना रहा। अमेरिकी प्रतिनिधि की यह घोषणा कि वह पर्यावरण की चिंता से अपने विकास को बाधित नहीं होने देगा, सम्मेलन में हिस्सा लेने वाले बाकी देशों को उलझन में डाले रही। इस हकीकत की जानकारी की पृष्ठभूमि में कि कुछ अनुमानों के अनुसार, अमेरिका दुनिया के कांच घर उत्सर्जन (ग्रीन हाउस एमीशन) के छत्तीस प्रतिशत के लिए जवाबदेह है। सभी प्रतिनिधि अमेरिका के नकारात्मक रवैये के सामने असहाय महसूस करते थे। अनुनय-विनय से अमेरिका को मनाने के अलावा उनके सामने कोई दूसरा चारा दिखाई नहीं देता था। दरअसल अमेरिका की दृष्टि प्रतीक रूप में पूँजीवाद की उस मूलदृष्टि की अभिव्यक्ति थी जिसमें मुनाफे की लिप्सा के आगे धरती का विनाश कोई मुद्दा नहीं है। कोई भी आदमी जो तथाकथित उदारीकरण के प्रचारात्मक धुंध से अंधा नहीं हो चुका है, इस पूँजीवादी हकीकत को देख सकता है। तेल लॉबी, तंबाकू लॉबी, जीएम (जीन द्वारा परिवर्तित) फसल की लॉबी क्या मौत के प्रसार का निर्लज्ज प्रयास नहीं है? आज उद्योग के ये क्षेत्र पूँजी की दुनिया में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इनके उत्पाद निर्विवाद रूप से फेफड़े, हृदय के रोग तथा कैंसर के लिए जवाबदेह हैं और आनुवांशिकी को विकृत कर मनुष्य का संहार करने वाले हैं। विडंबना है कि इन उद्योगों के व्यवस्थापक 'होमीसाइडल मैनिक' को वैसा पागल नहीं माना जाता जिस पर नरहत्या का जुनून सवार हो, बल्कि उन्हें तो आधुनिक समाज का सबसे प्रतिष्ठित व्यक्ति माना जाता है। इनके जीवन की झाँकियों से फैशन पत्रिकाएँ रंगी रहती हैं। यह बात दीगर है कि इनसे संबद्ध व्यक्तियों को दोष देना गलत होगा क्योंकि वे तो इस व्यवस्था की विवशताओं के दास हैं। यह व्यवस्था आदमी को निजी उन्नयन के ऐसे ही रास्ते प्रदान करती हैं।

दरअसल आज के पर्यावरण का संकट पूँजीवाद के विकास का अनिवार्य परिणाम है। स्थिति को सही परिप्रेक्ष्य में रखने के लिए इस बात की ओर ध्यान दिलाना काफी है कि मानव सभ्यता यानी नागरी सभ्यता लगभग छह हजार वर्ष पुरानी है। लेकिन

पर्यावरण के असंतुलन से धरती के अस्तित्व का संकट पिछले दो सौ वर्षों के पूँजीवाद के विकास से ही पैदा हुआ है। पूँजीवाद का लक्ष्य सदा पूँजी संचय और इसका प्रसार करना होता है। पूँजी का प्रसार उतनी ही तेजी से होगा जितनी तेजी से उत्पादन और विपणन बढ़ेगा। अंततः उत्पादन का लक्ष्य किसी के लिए उपभोग की वस्तु उपलब्ध कराना होता है। इसलिए पूँजीवाद के विकास के लिए उपभोग की वस्तुओं की विविधता और मात्रा को उत्तरोत्तर बढ़ाते जाना जरूरी है। उत्पादन की मात्रा के अनुपात में ही ऊर्जा और कच्चे माल की माँग बढ़ती है। इसी बढ़ती माँग के कारण पिछले दो सौ वर्षों में दुनिया के अधिकांश वन कट गए। भूमि के विशाल क्षेत्र पर औद्योगिक कच्चे माल का उत्पादन कृषि का लक्ष्य बन गया। संसार भर के खनिजों के भंडार खत्म होते जा रहे हैं। ईंधन के लिए दुनियाभर के कोयले के खदान खाली होते जा रहे हैं। वर्तमान उद्योगों और परिवहन के लिए ऊर्जा का सबसे बड़ा स्रोत पेट्रोलियम का भंडार कम होते-होते ऐसी स्थिति में पहुँच गया है कि इसके सभी ज्ञात स्रोत मात्र पच्चीस-तीस वर्ष में समाप्त हो जाएँगे। इक्कीसवीं सदी के अंत तक संभवतः कोयले के सभी स्रोत भी समाप्त हो जाएँगे। दूसरी ओर कोयले और तेल का विशाल मात्रा में जलाया जाना ही पर्यावरण के वर्तमान संकट यानी धरती के बढ़ते ताप का मूल कारण है। हालाँकि पर्यावरण को प्रदूषित करने में उद्योगों से होने वाले दूसरे रासायनिक तत्त्वों के बढ़ते उत्सर्जन का भी हाथ है जिससे ओजोन परत में छेद बढ़ता जा रहा है और लोगों का स्वास्थ्य प्रभावित हो रहा है।

अठ्ठारहवीं और उन्नीसवीं सदी से शुरू हुई औद्योगिक क्रांति का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रभाव था उद्योगों का कुछ नगरों में केंद्रित होते जाना। इससे संसारभर से कच्चे माल की आपूर्ति करने वालों श्रमिकों और विपणन में लगे बिचौलियों की आबादी इन नगरों में बढ़ने लगी। जितना नगर बढ़ता उतना ही इसकी बढ़ती जरूरतों की पूर्ति के लिए नये उद्योग और नये आदमी बढ़ते जाते। इन नगरों में फैलाव का एक अंतर्निहित दबाव था। इस तरह नगर धीरे-धीरे महानगरों और महानतम नगरों (मेगापोलिस) में तब्दील होते गए। नगरों के आकार के इस फैलाव का अनुमान प्राचीन काल के कुछ प्रसिद्ध नगरों से तुलना कर लगाया जा सकता है। पश्चिमी सभ्यता का आदि स्रोत माना जाने वाला एथेंस नगर की आबादी पचास हजार थी। इसके पहले के सबसे विख्यात नगर बेबीलोन को इस बात का गौरव था कि उसकी आबादी एक लाख थी। पुनर्जागरण के प्रसिद्ध केंद्र इटली के नगर-राज्यों की आबादी भी पचास हजार के करीब ही थी। फ्लोरेंस की आबादी पचास हजार और तत्कालीन रोम की आबादी पचपन हजार थी। प्राचीन काल के नगरों में आकार के हिसाब से अपवाद रोम था जहाँ की आबादी दस लाख के पास तक पहुँच गई थी। लेकिन इस आबादी

की जरूरत की पूर्ति और संतुष्टि के लिए बड़ी संख्या में गुलामों की जरूरत थी और नगर की जरूरतों की आपूर्ति के लिए इसे लगातार सैनिक अभियान और साम्राज्य विस्तार में लगा रहना होता था। फिर भी नगर की अपनी व्यवस्था सदा अराजक रही जिसमें आंतरिक कलह जीवन का अभिन्न अंग बन गया था। अनुमान है कि सोलहवीं शताब्दी के आखिर तक यूरोप के ज्यादातर नगरों की आबादी बीस हजार के आसपास थी। अमेरिका में अट्ठारहवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में दो सबसे बड़े नगर फिलाडेल्फिया और बोस्टन की आबादी पचास हजार से अधिक नहीं थी और न्यूयार्क की आबादी इससे भी कम थी। इसके दो शताब्दी के भीतर लंदन की आबादी करोड़ पार कर गई। एशिया और लातिनी अमेरिका के अनेक महानगर इनसे भी कहीं विशाल बन गए। मैक्सिको नगर की आबादी दो करोड़ से अधिक है। इसी तरह चीन में शंघाई, जापान में टोक्यो और भारत में दिल्ली, मुंबई, कोलकाता जैसे महानगरों की आबादी एक से दो करोड़ तक हो गई है।

महानगरों के विकास से ऊर्जा और संसार के सीमित पर अतिमहत्त्वपूर्ण संसाधनों जैसे जल, खाद्य पदार्थ आदि की आपूर्ति पर दबाव बहुत बढ़ जाता है। विभिन्न वस्तुओं को इन नगरों तक और फिर इन नगरों में उत्पादित वस्तुओं को संसार के सभी भागों तक पहुँचाने में यातायात पर ऊर्जा की खपत बड़ी मात्रा में होती है। नगर के फैलाव से नगर के भीतर भी यातायात पर ऊर्जा की भारी खपत होती है। ऊर्जा की यह खपत नगर के पर्यावरण के प्रदूषण का सबसे बड़ा स्रोत साबित होता है। एक पर्यावरणविद जेरेमी रिफ्किन के अनुसार अमेरिका की ऊर्जा पर होने वाले खर्च का लगभग पच्चीस प्रतिशत सिर्फ परिवहन पर होता है। अगर इसमें वाहनों के निर्माण और रखरखाव आदि का खर्च जोड़ दिया जाए तो यह खर्च 41 प्रतिशत तक हो जाता है।

इन सब बातों पर ध्यान दिलाना इसलिए जरूरी है ताकि भारत और तीसरी दुनिया के दूसरे देश, जो अमेरिका की आलोचना ऊर्जा की खपत की कटौती नहीं करने के लिए कर रहे हैं, यह भूल जाते हैं कि वे स्वयं अपने विकास में वही रास्ता अपना रहे हैं जो अंततः वैसी ही स्थिति की ओर ले जाने वाला है जिस स्थिति में आज अमेरिका है। यह बात दीगर है कि वे वहाँ तक जा पाएँगे या नहीं। वर्तमान औद्योगिक उत्पादन पद्धति के भीतर ऊर्जा के उत्सर्जन एवं प्रदूषण को नियंत्रित करने के लिए जो तकनीक होंगी, वे उद्योगों पर अतिरिक्त बोझ डालेंगी। जिसको संपन्न औद्योगिक देशों द्वारा तो वहन किया जा सकता है लेकिन गरीब देशों के लिए वह खर्च उनकी क्षमता से बाहर होगा। दिल्ली में सुप्रीम कोर्ट के आदेश से जो थोड़ा-सा प्रयास प्रदूषण नियंत्रण का हुआ उसी ने नगर के जीवन को अस्त-व्यस्त कर दिया और लाखों गरीब लोगों की रोजी छीन ली। इससे सबक सीखने की जरूरत है। हमें बिलकुल दूसरे तरह की तकनीक और सामाजिक ढाँचे का निर्माण इस समस्या से

निपटने के लिए करना होगा। बिना ऐसे बुनियादी परिवर्तन की तैयारी के भारत में पर्यावरण सुरक्षा की चर्चा एक छोटे और संपन्न समूह के बुद्धि विलास से ज्यादा कुछ नहीं हो सकता जो समस्या के समाधान की दृष्टि से निरर्थक है।

सौभाग्य से भारत में, जहाँ यह सम्मेलन हुआ है, हमें वैकल्पिक विकास की एक अवधारणा महात्मा गाँधी से मिली है। चूँकि यह कल्पना आम भारतीय की मनीषा से अभी भी लुप्त नहीं हुई है, एक शहरी संपन्न वर्ग को छोड़ दूसरे लोगों को ऐसे परिवर्तन के लिए तैयार करना असंभव नहीं होगा। दरअसल देश के लोगों के लिए इसके अनुसार जीवन को नये सिरे से ढालना ज्यादा आसान होगा क्योंकि अभी भी भारत के लोकजीवन में बहुत कुछ है जो इसे अपने ग्रामीण परिवेश और अतीत से जोड़ता है। इस अतीत के बीमार अंगों और कूड़े कचरे को साफ कर हम फिर से एक विकेंद्रित समाज का ढाँचा खड़ा कर सकते हैं जिसके केंद्र में गाँव हों। ऐसे गाँव जिनकी अर्थव्यवस्था के केंद्र में पारिवारिक श्रम पर आधारित छोटी खेती हो और जिसकी परिधि पर घरेलू, कुटीर एवं सहयोगी उद्योगों का तानाबाना हो। ये उद्योग एक-दूसरे की जरूरतों और कृषि में लगे लोगों की जरूरतों की पूर्ति करेंगे और किसान उद्योगों में लगे लोगों को भोजन और औद्योगिक कच्चे मालों की आपूर्ति करेंगे। अगर कृषि और उद्योग दोनों ही श्रम प्रधान तकनीक पर आधारित होंगे तो दोनों के बीच का आपसी विनिमय विषमतामूलक नहीं होगा। इसमें मानव श्रम और पशुओं की ऊर्जा को नये ऊर्जा स्रोतों द्वारा बेकार नहीं बनाया जाएगा बल्कि मानव श्रम को आसान और अधिक उत्पादक बनाया जाएगा। चूंकि अधिकांश वस्तुओं का उत्पादन और विनिमय स्थानीय होगा, पशु आधारित पारंपरिक परिवहन इसके लिए पर्याप्त होंगे सिर्फ उन थोड़ी-सी वस्तुओं को दूरदराज के स्थानों से लाने की जरूरत होगी जो स्थानीय रूप से उपलब्ध नहीं हैं। ऐसी ही ढुलाई के लिए रेलों या दूसरे आधुनिक परिवहन की जरूरत होगी। गाँवों और इनकी गतिविधियों से संबद्ध छोटे नगरों का आकार इतना छोटा होगा कि किसी आंतरिक परिवहन व्यवस्था की जरूरत नहीं होगी। इस तरह ऊर्जा की खपत को बहुत घटाया जा सकता है। ऐसी ऊर्जा के लिए गैर-पारंपरिक ऊर्जा स्रोतों जैसे—सौर ऊर्जा, पवन ऊर्जा, जल विद्युत, गोबर गैस या अन्य तरह के उद्भिज जन्य ऊर्जा का प्रयोग किया जाएगा।

अमेरिका जैसे आधुनिक औद्योगिक व्यवस्थाओं के संदर्भ में भी जेरेमी रिफ्किन जिनका जिक्र ऊपर हो चुका है, अपनी पुस्तक 'ईंट्रोपी' में ऐसे परिवर्तन को अपरिहार्य मानते हैं और लिखते हैं, 'श्रम प्रधान खेती की यह माँग होगी कि आबादी पुनः नगर छोड़

गाँवों की ओर वापस हो...अंततः खेती पर काम करने वाले लोगों का नगर में रहने वाले लोगों से अपने वर्तमान अनुपात को उलट देना होगा। श्रम आधारित जैविक कृषि वर्तमान विशाल नगरों की केंद्रित बड़ी आबादी की जरूरत की पूर्ति कर ही नहीं सकती। कृषि आधारित जीवन पद्धति आने वाले 'सोलर एज' (सौर युग) के केंद्र में होगा जैसा कि यह वर्तमान समय को छोड़ पहले के सभी युगों में था। हालाँकि नागरी जीवन बिल्कुल खत्म नहीं हो जाएगा। बड़े नगर फिर अपनी पारंपरिक पचास हजार के इर्दगिर्द की आबादी पर आ जाएँगे। यही पड़ोस की कृषि और ऊर्जा स्रोतों के अनुकूल होगा। हाल के अध्ययनों से यह भी पता चलता है कि एक लाख से अधिक आबादी के बढ़ते ही अनेक तरह की नागरिक अव्यवस्था की शुरुआत हो जाती है।'

इस तरह के परिवर्तन की हमारी तैयारी ही अमेरिकी हठधर्मिता का भी जवाब होगा जो दुनिया के पर्यावरण को नष्ट कर इसे मौत की ओर ढकेल रही है। अगर दुनिया के बाकी देश इस तरह के आत्मनिर्भर विकेंद्रित विकास की दिशा में कदम बढ़ाते हैं तो आप से आप अमेरिकी औद्योगिक प्रसार पर भी सीमा लग जाएगी। आज अमेरिकी उद्योग निरंतर फैलने की जरूरत इसलिए महसूस करते हैं क्योंकि संसार के बाकी देश वहाँ से सामान खरीदने और वहाँ अपना सामान बेचने के लिए उतावले हैं। अगर दुनिया के बाकी देश एक अलग तरह की स्वायत्त अर्थव्यवस्था अपना लें तो अमेरिका को स्वतः कुछ वैसी व्यवस्था की ओर लौटना होगा जिसका जिक्र रिफ्किन ने किया है। पर्यावरण की समस्या का असली हल कुछ इसी तरह ढूँढ़ना होगा।

राजनीतिक गतिरोध कैसे टूटे

दिसंबर महीने के प्रारंभ में होने वाले कुछ राज्यों के विधानसभा चुनाव और उसके साल भर बाद होने वाले लोकसभा चुनाव देश के सामने बड़ी चुनौती लेकर आने वाले हैं। वैश्वीकरण की चुनौती के मद्देनजर फिलहाल देश की राजनीति पक्षाघात की शिकार बनी हुई है। देश के सभी स्थापित दल तथाकथित वैश्वीकरण और उदारीकरण को कबूल कर बैठे हैं—भले ही सभी इसके मुखर प्रशंसक न हों। दस कदम आगे देखने की दृष्टि के अभाव में या आलस्य अथवा कुछ तात्कालिक लाभ के लोभ में सबने इसे तकदीर की लकीर की तरह मंजूर कर लिया है। इन दलों के पास करने या देश को देने के लिए कुछ बचा नहीं है। जब आए दिन देश के किसी न किसी हिस्से से घोर अभाव और भुखमरी अथवा हताश किसानों की आत्महत्याओं की खबरें आ रही हों, स्थापित राजनीति की निस्पंदता भयावह भविष्य का संकेत है। देश के अधिकांश हिस्से में भाजपा, इसके सहयोगी दलों के गठबंधन राजग और कांग्रेस के बीच सत्ता की अदला-बदली का खेल चालू रहता है जबकि पश्चिम बंगाल और केरल में वाम दलों और कांग्रेस के मोर्चे सत्ता के दावेदार होते हैं। उत्तर प्रदेश में सपा, भाजपा और बसपा एक तरह के 'म्युजिकल चेयर' के खेल में संलग्न हैं। लेकिन इस सारे चुनावी खेल में किसी वैचारिक मुद्दे को लेकर गहरा विवाद या मतभेद दिखाई नहीं देता।

अनेक लोगों को यह गतिरोध राजनीतिक स्थायित्व या नेतृत्व की प्रौढ़ता का सबूत लगता है जिसे वे राष्ट्रीय सर्वानुमति का प्रतिष्ठित नाम देते हैं। यह बात भुला दी जाती है कि इस सर्वानुमति में व्यवस्था के बोझ से कराहते हुए लोगों की पीड़ा राजनीति की पहुँच से बाहर रह जाती है। यह पीड़ा स्थापित राजनीति से बाहर जहाँ-तहाँ उभरने वाले जन आंदोलनों और कभी-कभी क्रुद्ध, हिंसक और आतंकवादी गतिविधियों में व्यक्त होती रहती है। लेकिन इससे राजनीति में कोई बदलाव नहीं होता। अक्सर इस स्थायित्व की तुलना कुछ संपन्न देशों की राजनीति से करके इसकी प्रशंसा में इसे राजनीतिक परिपक्वता का प्रमाण बताया जाता है। लेकिन अमेरिका, ब्रिटेन या जर्मनी की स्थापित द्विदलीय या गठबंधन की राजनीति से भारत की राजनीति की

तुलना नहीं की जा सकती।

इन संपन्न देशों में आम लोगों की समस्याएँ वैसी ही नहीं हैं जैसी हमारे देश में। वहाँ फिलहाल मुद्दा एक संपन्न समाज में सुविधाओं के थोड़ा घटने-बढ़ने का है, एक बड़ी आबादी को दरिद्रता से उबारने का नहीं। अमेरिका में अगर लोग राष्ट्रपति के चुनाव में व्यक्ति की विशिष्टताओं या विकृतियों को विवाद का मुद्दा बनाकर वोट देते हैं तो उससे लोगों का जीवन विशेष तरह से प्रभावित नहीं होता। वे जानते हैं कि सत्ता प्रतिष्ठान अपनी लीक पर चलते हुए उनकी समस्याओं का निदान कमोबेश चालू ढाँचे में ही करते रहेंगे और उनका जीवन विशेष तौर से प्रभावित नहीं होगा। लेकिन भारत में अर्थनीति और राजनीति में बड़े परिवर्तनों से ही लोगों के जीवन को मानवीय बनाया जा सकता है। ऐसे में राजनीति का गतिरोध आम लोगों के जीवन के विकास पर ही विराम लगा देता है। इसलिए हमें राजनीति में स्थायित्व नहीं, गतिशीलता की जरूरत है। जब हम इस दृष्टि से विचार करते हैं तो देश की राजनीति में बड़ी रिक्तता दिखाई देती है।

लोगों के जीवन से संबद्ध आर्थिक और राजनीतिक मुद्दों के अभाव को सांप्रदायिक और जातीय विवाद पैदा करने वाली नीतियों से पूरा करने की कोशिश की जाती है। इससे इन दलों की झोली में वोट तो पड़ जाते हैं लेकिन समाज के ढाँचे में स्थित पारंपरिक दरारें गहरी होती जाती हैं जबकि जरूरत उन्हें मिटाने की थी। एक उदाहरण राजस्थान की कांग्रेस द्वारा सवर्ण गरीबों के लिए आरक्षण की माँग है। यह समझ से परे है कि सवर्ण गरीबों को देश के बाकी गरीबों की विशाल संख्या से कैसे और किस आधार पर अलग कर विशेष सुविधा दी जा सकती है। सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े समूहों को विशेष सुविधा देकर समाज की पारंपरिक विषमता को खत्म करने की बात तो समझ में आती है, जिसके लिए संविधान में प्रावधान किया गया है। लेकिन देश की व्यापक गरीबी का निदान तो समाज के आर्थिक ढाँचे में बुनियादी बदलाव से ही हो सकता है और ऐसी नीति बिना किसी जातीय या धार्मिक भेदभाव के ही चलाई जा सकती है। इस तरह के आरक्षण की नीति सवर्णों की आँख में धूल झोंकने के अलावा और कुछ नहीं हो सकती। इस खेल में भाजपा स्वयं माहिर है। उसने भी इस नीति को समर्थन देकर कांग्रेस को मात देने की कोशिश की है।

लेकिन राजनीतिक प्रक्रिया को जाम करने का सबसे सशक्त औजार भाजपा के पास है। जब भी चुनाव पास होता है राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, विश्व हिंदू परिषद और बजरंग दल के बवाली जत्थे सक्रिय हो जाते हैं और ऐसी स्थितियाँ पैदा करने की कोशिश करते हैं जिनमें राष्ट्र का समेकित ढाँचा छिन्न-भिन्न हो जाए और राष्ट्र सांप्रदायिक गिरोहों के चिथड़े में तब्दील हो जाए और फिर इनकी चिप्पियों को जोड़

कर भाजपा अपनी सरकार बना ले। इस प्रक्रिया में राष्ट्र जितना ही कमजोर होता है भाजपा उतनी ही मजबूत होती जाती है। इस स्थिति से राष्ट्र के प्रति सभी आस्थावान लोगों की चिंता बढ़ती है और कांग्रेस या भाजपा विरोधी दूसरे दल इसी चिंता को अपने चुनावी प्रचार का आधार बना लेते हैं। मगर लोगों के जीवन को प्रभावित करने वाले आर्थिक-राजनीतिक मुद्दों को नजरअंदाज कर देते हैं। ऐसा करने के पीछे कारण यह नहीं होता कि देश की एकता उनके लिए सर्वोपरि महत्त्व की है, बल्कि वे ऐसा इसलिए करते हैं क्योंकि इससे उन्हें आर्थिक नीतियों पर किसी गंभीर विमर्श से बच निकलने का मौका मिल जाता है।

हर बार की तरह इस बार भी संघ परिवार ने आगामी चुनावों के मद्देनजर राम मंदिर का हंगामा शुरू किया है। कोशिश यह हो रही है कि सारे राजनीतिक विवादों को भाजपा और भाजपा विरोध के खांचों में डाल दिया जाए। लोग प्रायः यह भूल जाते हैं कि अयोध्या में रामलला की मूर्ति को चोरी से मस्जिद में रखने और फिर पूजा-अर्चना आदि की शुरुआत कांग्रेसी शासन में ही हुई। इसके अलावा बाबरी मस्जिद को ध्वस्त करने के समय भी केंद्र में नरसिंह राव की सरकार थी, जो सख्त रवैया अपना कर इस बर्बरता को रोक सकती थी। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि कांग्रेस की धर्मनिरपेक्षता की गुहार के पीछे कोई निश्चित प्रतिबद्धता नहीं है। बल्कि तात्कालिक राजनीतिक लाभ की लालसा है।

जहाँ तक बुनियादी आर्थिक नीतियों का सवाल है भाजपा और कांग्रेस की नीतियाँ एक हैं। आज देश के सामने सबसे बड़ी चुनौती भूमंडलीकरण और तथाकथित उदारीकरण की नीति से पैदा हुई है। इस मुद्दे पर भाजपा और कांग्रेस दोनों एक हैं। दोनों ही भूमंडलीकरण की समर्थक हैं। यह भी ज्ञातव्य है कि उदारीकरण की नीति की शुरुआत दिवंगत राजीव गाँधी के प्रधानमंत्रित्व में वित्त मंत्री के रूप में विश्वनाथ प्रताप सिंह ने ही की थी और बाद में मनमोहन सिंह ने इस नीति को आकार देने की कोशिश की। अपनी आर्थिक नीतियों में कांग्रेस और भाजपा तो एक हैं ही वाम पार्टियों और सपा के समर्थन से बनी इंद्र कुमार गुजराल और देवगौड़ा की सरकारें भी विश्व व्यापार संगठन और भूमंडलीकरण की नीतियों की विरोधी नहीं थीं। एक तरह से देश की मुख्यधारा की सभी पार्टियों की नीतियों में साम्य और निरंतरता रही है। आज देश और चुनावों की तैयारी में लगे राज्यों की बहुत सारी समस्याएँ इन्हीं नीतियों की उपज हैं और सत्ता और विपक्ष की तमाम प्रमुख पार्टियाँ इन समस्याओं के लिए जिम्मेवार हैं।

चाहे पंजाब के किसान हों या मध्यप्रदेश के सोयाबीन उत्पादक या दक्षिण के नारियल या दूसरे तिलहन पैदा करने वाले किसान, वे सभी सरकार की विश्व बाजार से अपने को जोड़ने की नीति के कारण तबाही के शिकार हैं। दरअसल आज राजधानी दिल्ली सहित पूरा देश वैश्वीकरण और केंद्रीकृत अर्थव्यवस्था का खमियाजा भुगत रहा है। इस बुनियादी खोट की ओर नजर डालने की जगह भाजपा और कांग्रेस दोनों ही एक-दूसरे को इस नीति के परिणामों के लिए जिम्मेवार ठहरा रही हैं जबकि दोषी दोनों ही हैं। अब दिल्ली की गंदगी और पर्यावरण की समस्या या बिगड़ती कानून-व्यवस्था की स्थिति पर विचार करें। इसके पीछे है दिल्ली का अंधाधुंध विस्तार। इस विस्तार के लिए दोषी कौन है? इसकी जवाबदेही उस पूरे अर्थतंत्र की है जो केंद्रीकृत बड़े उद्योगों और औद्योगिक नगरों के विकास को प्रोत्साहित कर रहा है। इस समस्या का एकमात्र समाधान यह है कि उद्योग वहाँ लगाए जाएँ जहाँ लोग रहते हैं। अगर देश के विभिन्न भागों में जहाँ से लोग रोजगार की तलाश में दिल्ली या दूसरे महानगरों में आते हैं रोजगार की व्यवस्था हो तो कोई भी घर-परिवार छोड़ महानगरों की झुग्गियों की दुनिया में रहने के लिए आना पसंद नहीं करेगा। लेकिन पिछले दशकों में कहीं भी उन स्थानों पर उद्योग-धंधे लगाने की कोशिश नहीं हुई है जहाँ आबादी की सघनता है और रोजगार के अवसर विरल हैं।

इससे देश के विभिन्न हिस्सों से विशेषकर उन हिस्सों से, जहाँ रोजगार के अवसर नगण्य हैं, लोग दिल्ली, मुंबई या पंजाब की ओर भागते हैं, जहाँ उद्योग या दूसरे तरह के उद्यमों में रोजगार के अवसर उपलब्ध हैं। जब इन स्थानों पर उद्योग-धंधों के विस्तार से आबादी बढ़ती है तो इससे स्वयं परिवहन और लोगों के दैनंदिन की आवश्यकताओं की वस्तुओं के उद्योगों का विकास होने लगता है और इससे रोजगार की तलाश करने वालों की भीड़ इन केंद्रों पर इस हद तक बढ़ती है कि इन नगरों की क्षमता इन्हें सँभालने में कम पड़ने लगती है। इसी से जुड़ा होता है झोपड़पट्टी का विकास, सामाजिक जीवन का विघटन और अपराधों की बाढ़। कुछ दृष्टि के अभाव से और कुछ उन वर्गों के दबाव में, जिनका केंद्रित विकास में निहित स्वार्थ है। कांग्रेस या भाजपा जैसे दल पूरे देश के तर्कसंगत विकास की नीति अपनाने में अक्षम बन गए हैं। बजाय इसके कि देश के सभी भागों का संतुलित विकास कर महानगरों की बढ़ती विकृतियों को रोकें, ये इन विकृतियों के लिए एक-दूसरे पर दोषारोपण कर कुछ तात्कालिक मुद्दों के इर्द-गिर्द लोगों का समर्थन जुटाने की कोशिश करते हैं। इस तरह चुनाव के बाद चुनाव होते रहते हैं और नगरों की समस्याएँ उनके कूड़े के ढेर की तरह दिनोंदिन बढ़ती जा रही हैं।

आने वाले चुनावों में असली समस्या उस दुश्चक्र को तोड़ने की है जिसमें देश फँसा

है। यह दुश्चक्र है राजनीति का राजग और राजग विरोध में सिमट जाना। यह एक अंधी गली है। आज जरूरत है ऐसी शुरुआत की, जिसमें नयी नीतियों से प्रतिबद्ध दल राजनीति में प्रवेश पाएँ। ऐसे दल या दलों की सीमित जीत से एकाएक देश की हालत में कोई बदलाव नहीं आएगा लेकिन असहायता की वह स्थिति बदलेगी जिसमें लोग अपनी तमाम असहमतियों के बावजूद ऐसे दलों को अपना मत देने को मजबूर हो जाते हैं जो देश की वर्तमान अराजक स्थिति के लिए जवाबदेह हैं। देश में आज अनेक छोटे-मोटे आंदोलन चल रहे हैं जो मुख्य धारा की राजनीति द्वारा उपेक्षित समूहों की समस्याओं का समाधान चाहते हैं। लेकिन राजनीति में इनकी पैठ नहीं होने से वे संबद्ध समस्याओं के निदान में कारगर नहीं हो पाते। आज ऐसे आंदोलनों के मुद्दों को केंद्र में रख कर चुनाव में हस्तक्षेप करने वाले दलों की जरूरत है। ऐसी ही पहल से वर्तमान राजनीति का गतिरोध टूटेगा।

कैसा होगा आर्थिक नीतियों का चेहरा

सोनिया गाँधी ने प्रधानमंत्री के पद को ठुकरा कर राजनीति के लिए एक अद्भुत प्रतिमान उपस्थित किया है। यह इस प्रचलित धारणा को पूरी तरह नकारता है कि राजनीति में कुछ भी उदात्त नहीं हो सकता। दरअसल, जेपी ने आजादी मिलने के बाद, जब वे सोशलिस्ट पार्टी के महामंत्री थे जवाहरलाल नेहरू को कुछ ऐसा ही सुझाव दिया था कि जब देश के नव निर्माण की जरूरत है तो कुछ नेताओं को सत्ता से बाहर रह देश की राजनीति को दिशा देने की कोशिश करनी चाहिए। जेपी ने कुछ ऐसा ही सोच कर स्वयं कभी संसद में जाने का प्रयास नहीं किया। लेकिन उस समय पंडित नेहरू ने यह कहकर इस सुझाव को मजाक में उड़ा दिया कि जयप्रकाश तो सत्ता से बाहर रहकर यह काम कर ही रहा है। लेकिन सत्ता के प्रति स्वयं नेहरू के इस मोह ने राजनेताओं में सत्ता को सर्वोपरि मानने के रुझान को बढ़ावा दिया जिसने देश की राजनीति को गलत दिशा दी।

आज चारों तरफ परिवारवाद दिखाई दे रहा है। सभी महत्त्वपूर्ण नेताओं के रिश्तेदार ही सांसद और विधायिकाओं के लिए उपयुक्त माने जाने लगे हैं। नेहरू ने दबाव के रूप में एकाध बार जरूर सत्ता त्यागने का ड्रामा किया था। सत्ता के प्रति नेहरू के इस रुख को लक्ष्य करके ही लोहिया ने कभी व्यंग्य से कहा था कि 'अनासक्ति के इस देश में नेताओं की गद्दी मरने के बाद ही छूटती है।' जब सोनिया गाँधी ने प्रधानमंत्री बनने से इनकार किया तो शुरू में ऐसा लगता था कि यह भी शायद कुछ ऐसा ही नाटक हो। सोनिया गाँधी के जन्म स्थान रोम में भी जूलियस सीजर ने मुकुट धारन करने के पहले तीन बार मना किया था।

नेहरू परिवार के दरबारी के रूप में काम करने के अभ्यस्त कांग्रेसियों ने जब सोनिया गाँधी पर प्रधानमंत्री बनने का भीषण दबाव बनाना शुरू किया तब यह आशंका होने लगी थी कि अंततः सोनिया गाँधी अपना विचार बदल देंगी। लेकिन सौभाग्य से यह साबित हुआ कि यह निर्णय वाकई एक दृढ़ संकल्प का परिणाम था। अब जो लोग इसमें कुछ छिपा मर्म देखते हैं अपनी कमजोरी की कसौटी पर एक बड़े मन को आँकने की कोशिश कर रहे हैं। हमें अब सहज भाव से इसे राजनीति के

लिए एक शुभ संकेत मान लेना चाहिए और आशा करना चाहिए कि दूसरे लोग भी राजनीति को सिर्फ पद पाने का माध्यम नहीं बनाएँगे।

संयोग से मनमोहन सिंह, जिनका चयन सोनिया गाँधी ने प्रधानमंत्री पद के लिए किया, वे भी अपनी ईमानदारी और कर्तव्यनिष्ठा के लिए जाने जाते हैं। अगर इनके चरित्र का अनुकरण दूसरे सांसद और राजनेता करने लगें तो देश की राजनीति उस दलदल से निकलने लगेगी जिसमें नीतियों की बहस की बजाय नेताओं के भ्रष्ट आचरण की चर्चा में ही देश की राजनीतिक ऊर्जा नष्ट हो जाती है। सौ करोड़ के इस देश में जहाँ करोड़ों लोग भूखे पेट सोने को मजबूर होते हैं, जहाँ समुचित आवासीय सुविधा भी थोड़े ही लोगों को उपलब्ध हैं और शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाएँ भी बस मुट्ठी भर लोगों को मिलती हैं, पूरी निष्ठा और ईमानदारी से काम करने पर भी लोगों की जरूरतों को पूरा करना काफी समय ले सकता है। ऐसे में देश में राजनीति करने वालों के सामने अपने और देश को बदलने की एक बड़ी चुनौती है। इस चुनौती को स्वीकार करने से नीतियों का मामला पहले से अधिक गंभीर बन जाएगा क्योंकि तब समाज के स्वरूप निर्धारण में नीतियाँ ही निर्णायक कारक बन जाएँगी।

फिलहाल देश जैसी फासीवादी ताकतों के उभार से निकला है उसमें सभी चाहेंगे कि नयी सरकार में स्थायित्व हो। इसके लिए सबसे पहले यह उम्मीद की जाती है कि नये मंत्रिपरिषद में कुशल और साफ छवि वाले लोग ही हों और कोई भी ऐसा व्यक्ति जिस पर भ्रष्टाचार के गंभीर आरोप रहे हैं इसमें शामिल नहीं किया जाए। इससे लोगों का भरोसा नयी सरकार पर जमेगा। इसके लिए कांग्रेस संगठन के भीतरी और सहयोगी दलों के बाहरी दबावों को निरस्त करना जरूरी लगेगा। यह कठिन पर वर्तमान स्थिति में अनिवार्य कर्तव्य बनता है। अब तक इस दिशा में बहुत सफलता मिलती नहीं दिखाई देती। मंत्रिपरिषद में कुछ चेहरे ऐसे हैं जिनके खिलाफ आपराधिक मामले दर्ज हो चुके हैं। शायद यह गठजोड़ राजनीति की मजबूरी हो। लेकिन इससे भविष्य में शासन भ्रष्टाचार मुक्त और पारदर्शी बन पाएगा इस पर संदेह होने लगता है। एक दृष्टि से यह स्थिति त्रासद होगी क्योंकि ईमानदारी ही मनमोहन सिंह सरकार की सबसे बड़ी या एकमात्र पूँजी मानी जाती रही है।

नीतियों के स्तर पर काफी संशय की गुंजाइश है। देश की आम जनता यानी गरीब वर्गों के हित में किसी मूलभूत बदलाव की संभावना में सबसे बड़ी बाधा तथाकथित सुधारों के प्रति मनमोहन सिंह की ख्यात प्रतिबद्धता की है। दरअसल, वे ही इस देश में 'उदारीकरण' की नीति के जनक माने जाते हैं। अर्थशास्त्र भी आज एक तकनीकी ज्ञान है यानी एक औजार है और किसी भी औजार की तरह इसका इस्तेमाल निर्दिष्ट लक्ष्यों के लिए होता है। जब तक यह स्पष्ट नहीं हो कि तकनीक की दिशा क्या है इसके नतीजों के बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। अब तक दुनिया के किसी भी देश में बहुसंख्य गरीब लोगों के हित में आर्थिक 'सुधारों'

के परिणाम नहीं हुए हैं। इसलिए मनमोहन सिंह की निर्विवाद विद्वत्ता के बावजूद या कहें तो इसी के कारण उनके द्वारा अपनाई गई नीति देश की गहराती विषमता को दूर करने की बजाय इसे और भी गहरा सकती है।

उदारीकरण को मानवीय चेहरा देने की बात की गई है जबकि दरअसल इसका कोई मानवीय चेहरा हो ही नहीं सकता। क्योंकि अपने आदर्श रूप में उन्मुक्त प्रतिस्पर्धा (फ्री कंपीटिशन) आर्थिक क्षेत्र को एक ऐसा युद्ध क्षेत्र बनाना चाहता है जिसमें पिछड़ने वालों को विनष्ट होना ही है। उन्हें किसी तरह की सरकारी या गैरसरकारी सहायता पहुँचाना इसके मूल नियमों की अवहेलना है। यह माना जाता है कि अक्षम और कमजोर उद्योग या निवेशकों के विनष्ट होने से समाज समग्र रूप में संपन्न होता है। अगर मजदूरों की छँटनी होती है तो यह औद्योगिक सक्षमता की अनिवार्य शर्त है।

संपन्न औद्योगिक देशों में भी इस नीति से करोड़ों लोग बेरोजगार हैं। लेकिन चूंकि वे संपन्न देश हैं इन बेरोजगारों को कुछ भत्ता दे दिया जाता है। भारत जैसे देश में जहाँ दसों करोड़ लोग अदृश्य बेरोजगारी के शिकार हैं और सरकारों का वित्तीय आधार कमज़ोर होता है नये बेरोजगार होने वालों की सुध कौन लेगा, या लेता रहा है? फिलहाल कुछ क्षेत्रों में वामपंथी दलों के दबाव में विनिवेश पर रोक लगी है। लेकिन यह 'सुधारों' की नीति की मूल भावना के विपरीत जाता है और कब तक चलेगा कहना मुश्किल है।

स्वयं वामपंथी दलों की कोई स्पष्ट नीति इस संबंध में नहीं है और वे अभी तक सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों के अपने ट्रेड यूनियनों के दबाव में निजीकरण के विरोधी बने रहे हैं। निजी क्षेत्र और विदेशी कंपनियों के बारे में पश्चिम बंगाल और केरल की वामपंथी सरकारों ने कोई विरोधी रुख नहीं अख्तियार किया है। यहाँ तक कि जल और पेयों में जहर घोलने वाली कोका कोला जैसी कंपनी को प्लाचीमारा में ग्राम पंचायत के विरोध के बावजूद अपना संयंत्र लगाने की अनुमति केरल की वाम मोर्चा सरकार ने ही दी थी।

इससे यह संशय होता है कि वाम दलों को भी उन्मुक्त बाजार व्यवस्था से, जिसे सुधार का लक्ष्य माना जाता है, कोई बुनियादी परहेज अब नहीं रह गया है। इसलिए कांग्रेस से उनका नीतिगत मतभेद दिखावटी ही है और वामपंथी कहलाने की लाज हया को बचाए रखने का उपाय मात्र। इसके अलावा पश्चिम बंगाल और केरल में कांग्रेस ही वाम दलों का मुख्य प्रतिद्वंद्वी है। इसलिए वामपंथ का मुखौटा

एकबारगी हटा देने से समर्थन का आधार भी खिसक सकता है। ये सब व्यावहारिक राजनीति की मजबूरियाँ हैं।

मनमोहन सिंह की सरकार द्वारा किसानों के हित रक्षा की बात की गई है। लेकिन उदारीकरण की नीति और वामपंथी दलों की नीति में भी छोटे किसानों की हित रक्षा के लिए कोई गुंजाइश है क्या? केरल और पश्चिम बंगाल में वाम दलों की भूमि सुधार नीति की काफी प्रशंसा हुई है, और एक हद तक यह प्रशंसा उचित भी है। लेकिन यह कृषि व्यवस्था का बुनियादी स्वरूप क्या हो इसको दर्शाने की बजाय इस चिरपरिचित कम्युनिस्ट नीति का नमूना है जिसमें किसानों का समर्थन हासिल करने के लिए उन्हें जमीन पर कब्जा करने के लिए कई देशों में प्रोत्साहित किया गया था—मसलन रूस, चीन और वियतनाम आदि में। लेकिन बाद में रूस और चीन दोनों में क्रमशः सामूहिकरण या कम्यून की व्यवस्था के लिए फिर उनकी जमीन छीन ली गई।

राष्ट्रीय स्तर पर संपूर्ण सत्ता के अभाव में केरल या पश्चिम बंगाल में यह संभव नहीं था इसलिए प्रारंभिक कदम के बाद कृषि सुधारों में एक ठहराव आ गया। लेकिन उनकी मूल दृष्टि इस बात में दिखाई देती है कि कम आय या घाटे वाली फसलों, जैसे धान या गेहूँ—उपजाने वाली जमीन पर तो भू-हदबंदी कानून लागू किया गया, लेकिन मुनाफा देने वाले हजारों-हजार एकड़ के चाय, कॉफी, रबर आदि के प्लांटेशनों को बड़े औद्योगिक घरानों के हाथ छोड़ दिया गया। वहाँ भूमि सीमा बढ़ाने पर कोई पाबंदी नहीं है। केरल में तो ग्रासिम कंपनी को लाने का श्रेय वाम मोर्चे सरकार को ही था जिसे प्रारंभ में नाम मात्र की लिहाजी कीमत पर हजारों हजार एकड़ पर जंगल में लगे बांस उपलब्ध कराया गया जबकि बांस से पारंपरिक उद्योग चलाने वाले छोटे उत्पादकों को भारी कीमत पर बांस खरीदना होता था।

चीन में जो कभी वामपंथियों का आदर्श था आर्थिक 'सुधारों' के चलते लगभग पंद्रह करोड़ किसान खेती छोड़ काम की तलाश में नगरों की ओर पलायन कर रहे हैं। इन प्रश्नों पर सरकार को अपनी दृष्टि साफ करनी होगी। नयी सरकार को यह साफ करना होगा कि उदारीकरण का मानवीय चेहरा क्या होगा। यह इसलिए जरूरी है क्योंकि इन सवालों का सही उत्तर पाए बगैर अभी जो उत्साह दिखाई देता है कुछ ही दिनों में समाप्त हो जाएगा और ऐसे मोह भंग से फासीवादी शक्तियों को फिर पाँव फैलाने का मौका मिलेगा। नेकनीयती का सही नीतियों और व्यवहारों में ढलने से ही आम लोगों को वैसी राहत मिलेगी जिसकी उन्हें तलाश है। नयी सरकार को तत्काल आम लोगों का अभूतपूर्व समर्थन प्राप्त है। आर्थिक सुधार के सैद्धांतिक पूर्वग्रह से इसके नष्ट होने की काफी संभावना है।

(ङ)

नीतिहीनता और अनैतिकता

भ्रष्टाचार की जड़ें

हमारे देश में भ्रष्टाचार एक अंतहीन रुदन का विषय बन गया है—इस हद तक कि इसकी चर्चा सिर्फ रस्मी रह जाए और इसके मिटने की संभावना असंभव लगने लगे। यह बढ़ता हुआ विश्वास कि सभी भ्रष्ट हैं लोगों के मन में यह भाव भी पैदा करता है कि चूंकि सभी भ्रष्ट ही हैं ईमानदार रहना, जो कठिनाइयों से भरा है जरूरी नहीं और भ्रष्ट आचरण ही व्यावहारिक आचरण है। इस तरह जो भ्रष्ट आचरण से घबराते हैं वे अव्यावहारिक या इससे भी बढ़कर निरे मूर्ख समझे जाते हैं। जब भ्रष्टाचार इतना व्यापक बन गया हो तो इससे लड़ने के लिए न सिर्फ मजबूत संकल्प की जरूरत है बल्कि भ्रष्ट आचरण के व्यापक बनने के कारणों की जानकारी की भी। अगर हम अपने देश के भ्रष्टाचार की सामाजिक जड़ों को पहचानने लगेंगे तो शायद यह विश्वास भी पैदा हो कि यह पुराण विहित कलिकाल की करामात नहीं, जिसके अनुसार हम भ्रष्ट युग या 'मठ युग' में प्रवेश कर गए हैं और इससे उबरने के लिए हमें किसी नये अवतार की प्रतीक्षा या तलाश करनी चाहिए। अगर हममें यह जानकारी बढ़ी कि भ्रष्टाचार के विशेष सामाजिक कारण हैं तो हम इसके निराकरण के भी सामाजिक उपाय ढूँढेंगे। वी. पी. सिंह या किसी अन्य त्राता की ओर इस आशा भरी निगाह से देखना कि वे हमें इस राक्षस से मुक्त कर देंगे अपने यहाँ के भ्रष्टाचार के सामाजिक संदर्भों को नहीं समझने का ही परिणाम है।

इस संदर्भ में सबसे बुनियादी बात यह है कि किसी आचरण को भ्रष्ट मानना काफी हद तक इस पर निर्भर करता है कि संबद्ध व्यक्ति कैसे समाज में रहता है। कोई भी समाज कुछ केंद्रीय मूल्यों के इर्दगिर्द गठित होता है। उन्हीं मूल्यों से यह निर्धारित होता है कि कोई आचरण भ्रष्ट है या नहीं। मैक्सवेबर के बाद के अधिकांश समाजशास्त्री मोटा मोटी तौर से यह मानने लगे हैं कि किसी समाज के मूल्यों के आधार होते हैं परंपरा, करिश्मा वाला व्यक्तित्व या विवेक पर आधारित कानून नियम की व्यवस्था। इस विभाजन के अनुसार आधुनिक औद्योगिक समाज के मूल्यों के आधार होते हैं भौतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए बनाए गए नियम कानून। यह माना जाता है कि ऐसे आधुनिक समाज में व्यवस्था वैयक्तिक या कौटुंबिक संबंधों या

प्रभावों से असंपृक्त होती है। कानून नियम को लागू करने की जवाबदेही एक वेतनभोगी समुदाय या नौकरशाही पर होती है जो शुद्ध रूप से नियमों पर चलते हैं। आदर्श रूप में आधुनिक औद्योगिक समाज और चुनाव पद्धति पर आधारित राजनीतिक व्यवस्थाओं के काम इसी पद्धति से चलते हैं। अगर व्यवहार में आचरण इससे अलग होता है तो इसे विकृति माना जाता है। इसके विपरीत परंपरा पर आधारित समाज में, और कुछ हद तक करिश्मा वाले व्यक्तित्व के प्रभाव में चलने वाली व्यवस्थाओं में भी वैयक्तिक वफादारी और निष्ठा नियम कानून से ऊपर हो जाती है। आधुनिक राजनीति में भ्रष्टाचार के कुछ आरोपों का कारण आचरण और इसके मूल्यांकन का दो भिन्न मूल्यों पर आधारित समाज व्यवस्थाओं से प्रभावित होना होता है। इसलिए आज का कोई भी समाज जिसने अपने आर्थिक और राजनीतिक ढाँचे में आधुनिक औद्योगिक समाज के मूल्यों को अपना लिया है लेकिन जिसके आपसी मानवीय संबंध परंपरागत समाज के मूल्यों पर चलते हैं एक खास तरह के भ्रष्टाचार के दबाव में रहता है। जैसा कि ऊपर कहा गया है परंपरागत समाज में व्यक्ति या परिवार के प्रति वफादारी सर्वोपरि महत्त्व की होती है। इस कारण समाज में किसी ऊँचे ओहदे पर पहुँचे हुए व्यक्ति से अपेक्षा होती है कि रिश्तेदारों को अपने पद से लाभ पहुँचाए। ठीक इसके विपरीत आधुनिक औद्योगिक समाज की यह अपेक्षा है कि इसके अधिकारी अपने पद का उपयोग कानूनी दायरे के बाहर किसी संबंधी को लाभ पहुँचाने में न करें। इस तरह का व्यवहार समाज के मूल्यों के अनुसार भ्रष्ट आचरण है।

पदों के दुरुपयोग के अधिकांश मामले इसीलिए उठते हैं क्योंकि आधुनिक मानदंडों पर आधारित संसदीय लोकतंत्र और प्रशासन के ऊँचे पदों पर वे ही लोग हैं जिनके वैयक्तिक आचरण में परंपरागत वफादारी घुटघुट कर समाई हुई है। विडंबना तो यह है कि जो लोग आधुनिकता की सबसे अधिक दुहाई देते हैं वे ही लोग अपने सगे-संबंधियों को आगे बढ़ाने में सबसे अधिक रुचि भी दिखलाते हैं। महात्मा गाँधी जिन्हें आम तौर से पीछे देखू, परंपरावादी और घोर प्रतिक्रियावादी कहा जाता है शायद देश के बड़े नेताओं में अकेले थे जिन्होंने अपने पुत्रों को वैसे ही जीवन के लिए प्रशिक्षित किया जो देश के श्रमिक वर्ग के बच्चों को उपलब्ध है। अपनी संतान के प्रति पक्षपात रहित व्यवहार का एक दुःखद परिणाम यह हुआ कि उनके बड़े पुत्र हरिलाल गाँधी विद्रोही बन गए और वह सब किया जिनका विरोध गाँधीजी करते थे। इसके विपरीत जवाहरलाल नेहरू जिन्हें भारतीय आधुनिकता का प्रतीक माना जाता है हर मौके पर अपने परिवार के लोगों को आगे बढ़ाने की कोशिश करते रहे जिसके परिणामस्वरूप देश पर तीन पीढ़ी से एक परिवार का शासन चल रहा है। इसी तरह कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं का संतान प्रेम भी आधुनिकता की मर्यादाओं को नहीं मानता। अगर भारतीय व्यवस्था में उनके लिए समुचित स्थान नहीं बन पाता तो उनके लिए रूस या अन्य कम्युनिस्ट देशों के नामी प्रतिष्ठानों में पैठ मिल

जाती थी जहाँ से वे पुनः अपने लिए एक विशिष्ट स्थान बना लेते थे।

इस अंतर्विरोध को समझना जरूरी है।

आधुनिकतावादियों का संकट यह है कि वे पारिवारिक वफादारी से तो मुक्त नहीं हो पाते लेकिन आधुनिकता के नाम पर अपने समाज के उन परंपरागत मूल्यों को नकार देते हैं जो हमारे समाज में कभी वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षा पर अंकुश का काम करते थे। एक अंकुश तो था एक सीमा के बाद भौतिक वस्तुओं के प्रति उपेक्षा की दृष्टि। दूसरा अंकुश था व्यक्ति के जीवन का चार कालों में विभाजन का आदर्श जिसमें तीसरा वानप्रस्थ और चौथा संन्यास था। इसके अनुसार अधेड़ होने पर पारिवारिक जवाबदेही से निवृत्ति और बुढ़ापा आने पर सांसारिक मोहमाया से निवृत्ति जीवन का लक्ष्य था। ऐसा शायद कभी नहीं था कि आम लोगों की जिंदगी इस आदर्श पर चलती थी। लेकिन चूंकि ये जीवन के आदर्श प्रतिमान थे। लोगों के जीवन पर परोक्ष रूप से इन आदर्शों का प्रभाव हमेशा बना रहता था। सर्वस्व दान यहाँ तक कि संतान दान तक के मिथक समाज में व्यापक थे और इनसे लोगों का जीवन प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता था। इस तरह यहाँ के परंपरागत समाज में संपत्ति और संतान के प्रति पूर्ण समर्पण का भाव कभी भी प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त कर सकता था। प्राचीन भारतीय समाज में शासक (राजा) स्वेच्छाचारी भी नहीं हो सकता था उसे धर्मशास्त्रों और अनेक श्रेणियों के बंधन में रहना पड़ता था। ये मूल्य सूफी संतों के माध्यम से इस्लाम के भारत में आने के बाद भी और मुगल सल्तनत तक में कायम रहे। औरंगजेब का अपने निजी खर्च के लिए सरकारी खज़ाने से कोई रकम लेने के बजाए कुरान के आयतों की नकल कर खर्च चलाना और अपने कब्र तक को बिना किसी तामझाम के फकीरों के कब्रों के बीच स्थापित करने की आज्ञा देना इसका प्रमाण है। इन सबके ऊपर असंग्रह या अपरिग्रह जीवन के उच्चतम आदर्शों में था। यह स्वाभाविक रूप से संपत्ति के प्रति उपेक्षा का भाव पैदा करता था। महात्मा गाँधी अगर संपत्ति और संतान के संकीर्ण मोह से बचे रहे तो इसका खास कारण ऊपर बतलाए गए मूल्यों के प्रति उनकी गहरी आस्था ही थी।

इसके विपरीत भारत के आधुनिकतावादी जीवन का प्रधान लक्ष्य भौतिक या आर्थिक उपलब्धि मानते हैं। लेकिन इनके लिए खुली प्रतिस्पर्धा की जगह जो आधुनिकता की माँग है, पारिवारिक या जातीय खोल के भीतर से ही उपलब्धि के संघर्ष में जुटना चाहते हैं। यह दोष दिनोंदिन और भी सघन होता गया है।

इसका एक खास सामाजिक कारण भी रहा है जिसे दूसरे समाजों में भी देखा जा सकता है। इसका सबसे प्रधान कारण है आधुनिक समाज में जीवन की उपलब्धि को एक ही आयाम यानी अर्थ उपार्जन में देखना। उपलब्धि का एक आयामी होने से व्यक्तियों के कर्म चाहे वे जिस क्षेत्र में हों आर्थिक कसौटी पर कसे जाने लगते हैं। सभी तरह के सृजन, चाहे वे शिल्प में हों, अन्य कलाओं में हों या विज्ञान में,

बाजार में विनिमय की वस्तु बन जाते हैं। उनको आँकने का एक ही मापदंड है—यह देखना कि उससे कितना धन का उपार्जन होता है। इसमें सफलता के प्रतीक के रूप में होती हैं वे सारी सामग्रियाँ जिन्हें पैसे से खरीदा जा सकता है। यहीं से उपभोक्तावादी संस्कृति को ऊर्जा मिलती है और लोग अपनी उपलब्धि के पैमाने के रूप में उपभोग के विभिन्न उपकरणों का जखीरा लगाने लगते हैं। जैसे-जैसे उपभोग की वस्तुओं की किस्में बढ़ती जाती हैं वैसे-वैसे लोगों के जीने के ढंग और स्तरों का फर्क भी बढ़ने लगता है। इससे एक ओर संपन्नता के प्रतीक वस्तुओं की संख्या अनगिनत होती जाती है और दूसरी ओर इन्हें प्राप्त करने की स्पर्धा उत्तरोत्तर अधिक कठोर होती जाती है।

एक और चीज जो आधुनिक औद्योगिक समाज के विकास का अभिन्न अंग है वह है सुविधाओं का व्यवस्था में हासिल किए गए स्थानों पर निर्भर होना। जो व्यक्ति व्यावसायिक या राजनीतिक प्रतिष्ठानों में जितना ही ऊँचा स्थान हासिल करता है उसकी आय और सुविधाएँ उतनी ही अधिक होती हैं। इसे योग्यता के आधार पर समान अवसर के सिद्धांत के रूप में गरिमामंडित किया जाता है। इसके कारण आधुनिक समाज में कोई भी अपनी सुविधा को कानून और नियम के तहत अपने वंशजों को उस तरह हस्तांतरित नहीं कर सकता जिस तरह वंश परंपरा वाले पारंपरिक समाज में संभव था। लेकिन चूंकि समाज के भीतर जीवन स्तरों का फर्क बहुत अधिक होता है इससे कोई भी आदमी यह नहीं चाहता कि उसकी संतान या अन्य नजदीकी रिश्तेदार समाज की निचली सीढ़ियों पर फेंक दिए जाएँ जहाँ उन्हें जीवन की वे सुविधाएँ उपलब्ध नहीं हो सकें जिनके वे अभ्यस्त हैं। यहीं से आधुनिक समाज में कुनबापरस्ती एवं भ्रष्टाचार की शुरुआत होती है। ऊँचे स्थानों पर जमे लोग अनेक तरह से समान अवसर के आधुनिक सिद्धांत के प्रतिकूल ऐसे तरीकों की तलाश करते हैं, जिनसे समान प्रतिस्पर्धा के कठिन रास्ते से उनके वंशजों को निजात मिल जाए और वे चोर दरवाजे से ऊँचे स्थानों पर पहुँच जाएँ, या अपनी योग्यता के अनुपात से कहीं अधिक आर्थिक लाभ ले सकें। रूस में जहाँ उत्पादन के साधनों पर राज्य का अधिकार था और सुविधाएँ लोगों को राज्य या अर्थव्यवस्था में हासिल पद के आधार पर मिलता था अपने सगे-संबंधियों को आगे बढ़ाने के लिए अपनाए जाने वाले भ्रष्ट आचरण काफी व्यापक थे।

आधुनिक केंद्रित व्यवस्थाओं में ऊँचे ओहदे वाले लोग अपने फैसले से किसी भी व्यक्ति को विशाल धन राशि का लाभ या हानि पहुँचा सकते हैं। लेकिन इन लोगों की अपनी आय अपेक्षतया कम होती है। इस कारण एक ऐसे समाज में जहाँ धन सभी उपलब्धियों का मापदंड मान लिया जाता हो व्यवस्था के शीर्ष स्थानों पर रहने वाले लोगों पर इस बात का भारी दबाव बना रहता है कि वे अपने पद का उपयोग नियमों का उल्लंघन कर नाजायज ढंग से धन अर्जित करने के लिए करें

और धन कमाकर समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करें। यहीं से राजनीति में भ्रष्टाचार शुरू होता है। लेकिन विकसित औद्योगिक समाजों में व्यवस्था की क्षमता को कायम रखने के लिए नियम कानून पर चलने और बराबरी की प्रतिस्पर्धा के द्वारा सही लोगों के चयन का दबाव ऐसा होता है जो ऐसे भ्रष्टाचार के विपरीत काम करता है। ऐसे समाजों में लोग भ्रष्ट आचरण के खिलाफ सजग रहते हैं क्योंकि इसे कबूल करना व्यवस्था के लिए विघटनकारी हो सकता है। हमारे समाज में भ्रष्टाचार के खिलाफ ऐसे व्यवस्थागत मूल्यों का निर्माण नहीं हो पाया है। इसके विपरीत जहाँ हमारी परंपरा में संपत्ति और सामाजिक सम्मान को अलग-अलग रखा गया था वहीं आज के भारतीय समाज में संपत्ति ही सबसे बड़ा मूल्य बन गई है और लोग इस विवेक से शून्य हो रहे हैं कि संपत्ति कैसे अर्जित की गई है इसका भी लिहाज रखें। इस कारण कोई भी व्यक्ति जो चोरी, बेईमानी, घूसखोरी तथा हर दूसरी तरह के कुत्सित कर्मों से धन कमा लेता है वह सम्मान पाने लगता है। इस तरह कर्म से मर्यादा का लोप हो रहा है।

आधुनिकतावादियों पर, जो धर्म और पारंपरिक मूल्यों को नकारते हैं तथा आधुनिक उपकरणों से सज्जित ठाठबाट की जिंदगी को अधिक महत्त्व देते हैं, भ्रष्ट आचरण का दबाव और अधिक होता है। इस तरह हमारे यहाँ भ्रष्टाचार सिर्फ वैयक्तिक रूप से लोगों की ईमानदारी के ह्रास का परिणाम नहीं है बल्कि उस सामाजिक मूल्यहीनता का परिणाम है जहाँ पारंपरिक मूल्यों का लोप हो चुका है पर पारंपरिक वफादारियाँ अपनी जगह पर जमी हुई हैं। इसी का नतीजा है कि आधुनिकता की दुहाई देने वाले लोग बेटे पोते को आगे बढ़ाने में किसी भी मर्यादा का उल्लंघन करने से बाज नहीं आते। चूंकि हमारे समाज में विस्तृत परिवार के प्रति वफादारी के मूल्य को सार्वजनिक रूप से सर्वोपरि माना जाता रहा है कुनबापरस्ती या खानदानशाही के खिलाफ सामाजिक स्तर पर कोई खास विरोध नहीं बन पाता। आम लोग इसे स्वाभाविक मानकर नजरअंदाज कर देते हैं। ऐसी स्थिति में इनका विरोध प्रतिष्ठानों के नियम कानून के आधार पर ही संभव हो पाता है।

ऊपर की बातों पर विचार करने से लगता है कि जब तक संपत्ति और सत्ता का ऐसा केंद्रीयकरण रहेगा जहाँ थोड़े से लोग अपने फैसले से किसी को अमीर और किसी को गरीब बना सकें और समाज में घोर गैर-बराबरी बनी रहेगी तब तक भ्रष्टाचार के दबाव से समाज मुक्त नहीं हो सकता। यही कारण है कि दिग्गज स्वतंत्रता सेनानी और आदर्शवादी लोग सत्ता में जाते ही नैतिक फिसलन के शिकार बन जाते हैं। एक ऐसे समाज में ही जहाँ जीवन का प्रधान लक्ष्य संपत्ति और इसके प्रतीकों का अंबार लगाकर कुछ लोगों को विशिष्टता प्रदान करने की जगह लोगों की बुनियादी और वास्तविक जरूरतों की पूर्ति करना है भ्रष्ट आचरण नीरस बन सकता है।

भ्रष्टाचार का उन्मूलन एक समता मूलक समाज बनाने के आंदोलन के क्रम

में ही हो सकता है जहाँ समाज के ढाँचे को बदलने के राष्ट्रव्यापी आंदोलन के संदर्भ में स्थानीय तौर से भ्रष्टाचार के संस्थागत बिंदुओं पर भी हमला हो सके। बिहार में चलने वाले 1974 के छात्र आंदोलन की कुछ घटनाएँ इसका उदाहरण हैं, जिसमें एक अमूर्त लेकिन महान लक्ष्य 'संपूर्ण क्रांति' के संदर्भ में नौजवानों में एक ऐसी ऊर्जा पैदा हुई कि बिहार के किशोरावस्था के छात्रों ने प्रखंडों में और जिलाधीशों के बहुत सारे कार्यालयों में घूसखोरी आदि पर रोक लगा दी थी। लेकिन न तो संपूर्ण क्रांति का लक्ष्य स्पष्ट था और न उसके पीछे कोई अनुशासित संगठन ही था। इसलिए जनता पार्टी को सत्ता की राजनीति के दौर में वह सारी ऊर्जा प्राप्त हो गई।

अंततः हर बड़ी क्रांति कुछ बुनियादी मूल्यों के इर्दगिर्द होती है। इन्हीं मूल्यों से प्रेरित हो लोग समाज को बदलने की पहल करते हैं। हमारे देश में, जहाँ परंपरागत मूल्यों का ह्रास हो चुका है और आधुनिक औद्योगिक समाज की संभावना विवादास्पद है, भ्रष्टाचार पर रोक लगाना तभी संभव है जब देश को एक नयी दिशा में विकसित करने का कोई व्यापक आंदोलन चले। इसके बिना भ्रष्टाचार को रोकने के प्रयास विफलताओं और हताशा का चक्र बनाते रहेंगे।

नीतिहीनता अनैतिकता की जड़ है

समाज के संभ्रांत लोगों में जिनके घरों में आँसुओं से गुँधी रोटियाँ खाने की मजबूरी नहीं होती, राजनीतिक भ्रष्टाचार की चर्चाएँ अति आवश्यक चटखारा होती हैं जिससे मध्यवर्गीय जीवन की एकरसता मिटाई जाती है। इस वर्ग के 'फील गुड' के लिए स्कैंडल उतना ही अपरिहार्य है जितना इसकी कारों के लिए चिकनी-चमचमाती सड़कें। वर्तमान व्यवस्था इन दोनों की आपूर्ति में जुटी है। चाहे जूदेव या तहलका का मामला हो चाहे प्रतिभूति घोटाला, इन घोटालों की आपूर्ति मीडिया में विज्ञापित दूसरी उपलब्धियों से अधिक भरोसेमंद होती है। अमेरिका में गोरों के बढ़ते वर्चस्व के संदर्भ में कभी एक कहावत प्रचलित थी 'सिविलाइजेशन एंड सिफिलाइजेशन मूव टुगेदर'। इसका संकेत इस तथ्य की ओर था कि गोरों के आधिपत्य के साथ ही मूल निवासियों में सिफलिस की बीमारी भी, जिसे गोरों ने संक्रमित किया था, तेजी से फैलती गई थी।

कुछ ऐसा ही संबंध हमारे वर्तमान विकास और भ्रष्टाचार का भी है। भ्रष्टाचार से—जिसका पैमाना प्रकट से कहीं अधिक अप्रकट है—बड़ी संख्या में ऐसे लोगों को मोटर गाड़ियाँ उपलब्ध होने लगी हैं जिनकी अपनी ईमानदार कमाई से वे कभी कल्पना भी नहीं कर सकते थे। इस तरह टीवी चैनलों पर परोसे गए सपनों को हकीकत में जल्दी बदल देना संभव होता है। तात्कालिक रूप से इन वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों को कुछ धंधा भी मिल जाता है। जिन्हें इन सबका खमियाजा भुगतना होता है उनके संबंध में तभी कोई बात मीडिया में आती है जब कुछ लोग भूख से मर जाते हैं (अपर्याप्त भोजन और कुपोषण से असमय तिल-तिल कर मरने वाले असंख्य लोगों की बात तो कभी चर्चा में आती ही नहीं) या जीवन के असह्य हो जाने से लोग आत्महत्या कर लेते हैं। यह सब फील गुड फैक्टर का अनिवार्य दूसरा पहलू है जिसके संबंध में कुछ कहना मजा किरकिरा करना होता है।

यह अचरज में डालने वाली बात है कि आम चुनाव के समय भी जिससे एक अरब भारतीयों के भविष्य का सीधा संबंध है, उन अनगिनत लोगों की कहानी अनकही ही रह जाती है जिन्हें संभ्रांत समाज की सारी मौज-मस्ती का बोझ उठाना होता है।

वर्तमान दलों में इनके पैरोकार नहीं हैं। समाज के हाशिए पर पड़े बहुसंख्यक लोगों के जीवन के हादसे राजनीति का मुद्दा क्यों नहीं बन पाते इसे गंभीर विवेचन का विषय बनना चाहिए। वैसे तो हमारी अपनी स्थिति और इतिहास के अलावा इसके अनेक कारण ढूँढ़े जा सकते हैं, लेकिन इसका एक वैश्विक आयाम भी है जो व्यवस्था की अमानवीयता और व्यापक भ्रष्टाचार का सबसे बुनियादी कारण है। यह है राजनीति का नीतियों से कट जाना।

इस नीतिहीनता के साथ अनैतिकता का स्वाभाविक संबंध बनता है। देश के प्रबुद्ध जनों का एक खासा हिस्सा पिछले दिनों हमें इस बात से कायल करने की कोशिश करता रहा है कि विचारधारा बेकार की बकवास है। हमें राजनीति को 'मॉरैलिटी प्ले' यानी नीति निर्देशक खेल नहीं बनाना चाहिए। हमें 'प्रैगमेटिक' होना चाहिए—यानी स्थिति के अनुसार अपनी सुविधा सोच कर व्यवहार करना सीखना चाहिए। इस नसीहत की नींव को हमारी यह प्रचलित मान्यता भी मजबूत करती है कि पहले घर दीया जलाओ तब मस्जिद में—यानी संसार की चिंता करने की बजाय पहले अपना घर भरो। कुल मिलाकर यह बात गौण हो जाती है कि व्यक्ति का समाज के प्रति भी कोई दायित्व बनता है। इस दृष्टि से स्वार्थ के लिए कुछ भी करना जायज है।

राजनीति के लिए इसका निहितार्थ सीधा है। राजनीति शुद्ध रूप से वैयक्तिक सत्ता और सुविधा का खेल है। अगर समाज में ऐसी दृष्टि व्याप्त हो तो किसी भी व्यक्ति या दल पर नियंत्रण कैसे लगे? विचार गौण हैं, व्यक्तियों को पताका बनाकर ही सारा अभियान चलाया जा रहा है। अटल बिहारी वाजपेयी की अपील इसलिए है कि वे अच्छे सर्कस मास्टर हैं, जो वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षा से परिचालित बाईस दलों के नेताओं को रिंग में इकट्ठा रख सकते हैं। अगर एकाध रिंग से बाहर निकलता है तो रिंग पर हसरत भरी निगाह लगाए खड़े किसी दूसरे को अंदर लाकर वे सर्कस को जारी रखते हैं। सबसे बड़ी उपलब्धि यह गिनाई जाती है कि वे बिना टूट लगातार पाँच वर्ष सत्ता सुख भोगते रहे। निस्संदेह ऐसी कवायदों के लिए उनमें पर्याप्त जज्बाती लचीलापन है। एक दिन वे गुजरात की वारदातों के लिए संसार के सामने अपनी शर्मिंदगी का इजहार करते हैं और दूसरे ही दिन इन वारदातों के जनक नरेंद्र मोदी की पीठ थपथपाते हैं।

इसके बरक्स सोनिया गाँधी और उनके बेटे-बेटियाँ हैं। वे अच्छे इंसान हो सकते हैं। देश को उन्हें देखना-समझना है। लेकिन देश के लिए इन्होंने क्या किया है जिसके लिए उन्हें देश का नेता मानने को कहा जा रहा है? किसी को सिर्फ किसी पूर्व प्रधानमंत्री की पत्नी या पुत्र-पुत्री होने भर से देश के नेता के रूप में खड़ा करने में कांग्रेस के अनुभवी नेताओं को कोई शर्मिंदगी महसूस नहीं होती। बात सीधी है,

यह सब मात्र एक खेल बन गया है। अगर आप यथेष्ट साधन जुटा सकते हों और प्रचार की क्षमता रखते हों तो किसी को भी अपनी सत्ता की मुहिम में पताका बना कर कामयाब हो सकते हैं। चुनावों में जीत हो या न हो क्या यह छोटी कामयाबी है कि किसी अपरिचित अनजान व्यक्ति को, जिसने देश के लिए कभी कुछ किया नहीं हो देश के भावी कर्णधार के रूप में खड़ा कर दिया जाए और उसके लिए पर्याप्त समर्थन जुटा लिया जाए। यह प्रचारतंत्र की विजय और लोकतंत्र की शर्मनाक हार है।

इस प्रकार के घटाघोप में शब्द अपना अर्थ खोते जा रहे हैं। मुलायम सिंह यादव—जिन्हें कभी प्रधानमंत्री के पद के दावेदार के रूप में पेश किया जा रहा था और आज भी कम से कम उत्तर प्रदेश में अपनी हैसियत बनाए हुए हैं—कौन-सा आदर्श पेश करते हैं? वे जिस पार्टी के नेता हैं उसे समाजवादी पार्टी कहा जाता है। लेकिन इसके पीछे अमर सिंह, अंबानी और देश के कई दूसरे व्यापारिक घरानों की छत्रछाया है। इसके अलावा संगठन से अनेक सामंती और आपराधिक छवि वाले लोगों के नाम जुड़े हैं। अगर यह पार्टी सत्ता में आती है तो कैसा समाजवाद लाएगी?

कम्युनिस्ट पार्टियाँ दिल्ली की सत्ता की दौड़ में नहीं हैं लेकिन पीछे से इन्हीं जैसों को सहारा देने में लगी हैं। लेकिन स्वयं इनका भी नाम को छोड़ साम्यवाद से कितना रिश्ता रह गया है? केरल में बीच-बीच में लगभग आधी शताब्दी से और पश्चिम बंगाल में लगातार दो दशक से माकपा वामपंथी सहयोगियों के साथ सत्ता में बनी रही है। लेकिन समाज में समता की कोई छाप नहीं दिखाई देती जिससे इन राज्यों को दूसरों से अलग किया जा सके। और न विकास की कोई ऐसी दिशा दिखाई देती है जो वर्तमान भूमंडलीकृत व्यवस्था और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के शिकंजे को कमजोर करती दिखाई दे। पश्चिम बंगाल में इसकी जो सबसे बड़ी उपलब्धि है वह है शासनतंत्र पर ऐसा सांगठनिक शिकंजा जो इसका विरोध करने वालों में आतंक पैदा करता है। हजारों वर्ष से चली आ रही विषमता की व्यवस्था को दस-बीस वर्ष में समाप्त कर देना संभव नहीं है। लेकिन समाजवाद या साम्यवाद जैसे नाम से एक आकर्षण जुड़ा था जो अनेक पीढ़ियों को समाज बदलने और इस बदलाव के लिए दिशा तलाशने की प्रेरणा देता था। अब ये शब्द घिसे सिक्के बन गए हैं जिससे मन में कोई छवि नहीं बनती। इन शब्दों की पवित्रता पूरी तरह नष्ट हो गई है।

जब आजादी के आंदोलन में कभी अगुआ रही कांग्रेस और संसार को बदलने का सपना देने वाले सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट आदर्शों से भटक गए हैं तो राज्यों के

छत्रपों से, जिनका वर्चस्व बिहार, ओडीशा, हरियाणा, आंध्र और तमिलनाडु में कायम है, किन आदर्शों की आशा की जा सकती है। इनके सामने तो सत्ता हासिल करने को छोड़ कभी कोई दूसरा आदर्श रहा ही नहीं। ये अपनी सुविधा के मुताबिक केंद्रीय सत्ता से जोड़-तोड़ करना भर जानते हैं।

आदर्शों के विघटन का पूरा फायदा केंद्र में स्थापित फासीवादी शक्तियों को मिल रहा है। समाज के जितने ऊँचे आदर्श रहे हैं सत्ता में आने के बाद से ही भाजपा द्वारा उन्हें नष्ट करने की कोशिश की जा रही है। वैज्ञानिक शिक्षा के साथ तंत्र-मंत्र और अंधविश्वास का घालमेल कर वस्तुपरक सोच की क्षमता को नष्ट करने का प्रयास किया गया। इसने भारतीय राष्ट्रीयता और इसकी साझा विरासत को, इतिहास को तोड़-मरोड़ कर नष्ट करने का प्रयास किया। संविधान समीक्षा के नाम पर संविधान के लोकतांत्रिक चरित्र को नष्ट करने की कोशिश की गई। चुनाव आयोग की निष्पक्षता के खिलाफ मुहिम चलाई गई। अब चुनाव प्रचार के दौर में राज्य और पार्टी के फर्क को मिटाकर सरकारी संसाधनों का खुलकर दुरुपयोग किया जा रहा है।

चुनाव आयोग ने राजनीतिक दलों से अपील की थी कि वे चुनावों के मद्देनजर आचार संहिता का पालन करें। एक तरह से नया चुनाव कराने के लिए जब लोकसभा भंग की गई तो यह माना जाना चाहिए कि चुनाव प्रक्रिया शुरू हो गई। लेकिन कानूनी दृष्टि से चुनाव प्रक्रिया का चालू होना तभी माना जाता है जब चुनाव आयोग विधिवत चुनावों की तिथि तय कर इसे शुरू करता है। इस बात की आड़ लेकर बीच के समय में सभी सरकारी प्रचार माध्यमों और विभागीय विज्ञापनों का इस्तेमाल सरकार यानी सत्तारूढ़ दल की उपलब्धियों को बढ़ा-चढ़ा कर बतलाने का सिलसिला चलता रहा है। कोई दिन नहीं गया जब केंद्रीय मंत्रियों की तसवीरों विशेषकर प्रधानमंत्री की फोटो के साथ पूरे-पूरे पृष्ठ के विज्ञापन न छपे हों। सबसे शर्मनाक बात तो यह है कि प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने यह तर्क देकर ऐसे विज्ञापनों के औचित्य का समर्थन किया कि सरकार की जवाबदेही बनती है कि वह जनता को बतलाए कि वह उसके लिए क्या कर रही है। यह एक दिलचस्प तर्क है। क्या लोगों को सरकारी नीतियों का आकलन अपने जीवन पर पड़ने वाले इनके प्रभाव की जगह सरकारी विज्ञापनों में क्या कहा जाता है इससे करना चाहिए!

अभी देश में राजनीतिक दलों की जो स्थिति है उसमें यह आशा तो नहीं की जा सकती कि आगामी चुनाव के बाद देश की हालत में कोई बुनियादी परिवर्तन होगा। मुख्य कारण यह है कि सत्ता के दावेदार सभी दलों की आर्थिक नीतियाँ समान हैं। ऐसे परिवर्तन के लिए तो देश के गरीब लोगों के जीवन को सुधारने के लिए प्रतिबद्ध कार्यकर्ताओं द्वारा नये तरह के दल के संगठन की चिरकालिक प्रक्रिया चलानी होगी। लेकिन ऐसा तभी संभव होगा जब लोकतांत्रिक व्यवस्था का मूलाधार सुरक्षित रहे। फिलहाल भाजपा और इसके सहयोगी दल इसी पर आघात कर रहे हैं। मध्यप्रदेश

में सत्ता में आते-आते उमा भारती की सरकार ने साहित्यकारों का जैसा दमन शुरू किया है उससे साफ है कि इनके शासन में अभिव्यक्ति की आजादी सुरक्षित नहीं रहेगी।

सत्ता के बाहर से भी हिंदुत्ववादियों के उत्पाती दस्ते विचार स्वातंत्र्य को अपना निशाना बनाते रहे हैं। हाल में महाराष्ट्र में भंडारकर पुस्तकालय में जो तोड़फोड़ हुई वह इस बात का संकेत है कि उनकी असहिष्णुता सभ्य व्यवहार की कोई सीमा कबूल नहीं करती। इससे देश के आम लोगों के सामने एक मुद्दा तो तत्काल उभर कर आ ही जाता है। उन्हें जागरूक रहना है कि देश की सर्वोच्च सत्ता ऐसे लोगों के हाथों में फिर नहीं आने पाए जो लोकतंत्र की जड़ को ही मिटाने पर आमादा हैं। अंततः अभिव्यक्ति की आजादी का सीधा संबंध रोटी के लिए संघर्ष से बनता है। आज गरीबों की रोटी और अभिव्यक्ति की आजादी दोनों ही दाँव पर हैं।

(च)

पिछड़ी एवं दलित राजनीति की भूमिका

बदहाली के बीच सत्ता का खेल

देश की राजनीति, विशेषकर राष्ट्रीय आंदोलन में अग्रणी रहे बिहार और उत्तर प्रदेश की राजनीति न सिर्फ दयनीय बल्कि हास्यास्पद बनती जा रही है। उत्तर प्रदेश में बसपा-भाजपा गठबंधन सरकार को गिराने और बचाने की रस्साकशी में दबाव, विधायकों के अपहरण के आरोप और पुलिस हस्तक्षेप आदि को लेकर जो तमाशा हुआ वह कॉमिक ऑपेरा का दृश्य उपस्थित करता है। अगर इस राजनीतिक खेल की पृष्ठभूमि में लोगों की बढ़ती बदहाली की त्रासद उपस्थिति नहीं होती तो ऐसा लगता कि ये सब किसी मसखरे द्वारा आयोजित हास्य नाटक के दृश्य हैं। राजद अध्यक्ष लालू प्रसाद की नाटकीय भंगिमाएँ और सभी बयानों में व्यंग्य का पुट देने की हाजिरजवाबी ने देश भर में उन्हें एक कुशल अभिनेता की ख्याति प्रदान कर दी है। इससे गंभीर आशय और मजाक का फर्क प्रायः गायब हो जाता है। इन दोनों राज्यों में सब कुछ इतना अप्रत्याशित और अजूबा होता है कि नाट्य और जीवन का फर्क गायब होने लगता है और यह पूरा परिदृश्य उत्तर-आधुनिकतावादी विमर्श का सत्यापन-सा लगता है। लेकिन निरक्षरों और बेकारों की बढ़ती भीड़, अर्थाभाव में सरकारी और अर्ध-सरकारी कामों में लगे लोगों का महीनों और कहीं-कहीं वर्षो वेतन से वंचित रखा जाना, बीमारी, कुपोषण और भुखमरी आदि ऐसी हकीकतें हैं जिनसे जीवन आतंकित करने वाला दुःस्वप्न बन कर रह जाता है। स्थिति इतनी भयावह बनती जा रही है कि रोग की पहचान कर इसके निराकरण की दिशा में संकल्प से कुछ करना समय की गुहार बन गई है। इन राज्यों के आर्थिक पिछड़ेपन के कारण तो स्पष्ट हैं। इन राज्यों में औपनिवेशिक शासन का अंत स्वायत्त विकास की दिशा में होने की बजाय आंतरिक औपनिवेशिकरण की तरफ हुआ। अंग्रेजी हुकूमत की विरासत में जो आधुनिक औद्योगीकरण का आधार रखा गया वह तटीय केंद्रों में यथा कराची, मुंबई, सूरत, चेन्नई, कोलकाता और इनके आसपास के इलाकों में। दिल्ली राजधानी बनने के बाद एक अपवाद बन गया क्योंकि सत्ता के केंद्र में होने से यह चुंबक की तरह उद्यमियों को आकर्षित करने लगा। इन केंद्रों के विकास के लिए संसाधनों की आपूर्ति देश के बाकी हिस्सों का वैसा ही शोषण कर रही

है जैसी लंकाशायर और लंदन के लिए अंग्रेजी राज में होती थी। पूँजीवाद में औद्योगिक विकास का यह अंतर्भूत दबाव होता है कि विकास के वे ही बिंदु फैलते जाएँ जहाँ से उद्यम प्रारंभ किए गए हैं। देश के दूरदराज एवं उपेक्षित इलाकों में–यथा उत्तर-पूर्वी राज्यों तेलंगाना के हिस्सों, मध्य प्रदेश और छत्तीसगढ़ के आदिवासी बहुल अंचलों में इस शोषण के खिलाफ हिंसक अलगाववादी आंदोलन उभरे। प्रारंभ में बिहार और उत्तर प्रदेश राष्ट्रीय आंदोलन के केंद्र भी संभवतः इसीलिए थे क्योंकि औपनिवेशिक शोषण का एहसास सबसे अधिक यहीं था। राष्ट्रीय चेतना की विरासत और अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण ये अलगाववादी आंदोलन का सहारा नहीं ले सकते थे। लेकिन देश की आबादी का बड़ा हिस्सा होने के कारण ये लोक प्रतिनिधित्व के माध्यम से देश की राजनीति को ऐसी दिशा दे सकते थे जिसमें देश के सभी भागों का समान विकास हो पाता। लेकिन इन राज्यों की राजनीतिक ऊर्जा अचानक चुक गई लगती है। यहाँ के राजनेता अपने बदहाल परिवेश को ही नोच-नोच कर खाने में लगे दिखाई देते हैं। राजनीति गतिहीन और दिशाहीन बन गई है।

दरअसल इस गतिहीतना के पीछे समाज को गति और दिशा देने वाली किसी नियामक विचारधारा का अभाव है। आजादी के आंदोलन के समय स्वदेशी और स्वावलंबन का जो भाव जगा था वह पश्चिमी अंधानुकरण और उपभोक्तावाद से समाप्त हो गया है। जहाँ पूँजीवादी उद्योगों का विकास काफी हो चुका है वहाँ तो इसमें अंतर्निहित प्रसार की ऊर्जा समाज को उस समय तक गतिशील रखती है जब तक यह आंतरिक संकट का शिकार नहीं हो जाता। इसके विपरीत पिछड़ी अर्थव्यवस्थाओं में विचारधाराओं द्वारा प्रस्तुत आदर्शों से ही विकास के लिए ऊर्जा मिलती है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद चार दशकों तक साम्यवाद और समाजवाद की विचारधाराएँ किसी न किसी रूप में राजनीति को आदर्श एवं दिशा देती रहीं। सोवियत संघ के पतन और चीन का पूँजीवादी मानकों को शिरोधार्य कर लेने के बाद भारत की कम्युनिस्ट पार्टियाँ श्रीहीन हो गई हैं। जहाँ ये सत्ता में हैं किसी तरह मात्र सत्ता बचाने के प्रयास में लगी हैं। अलबत्ता मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी ने सत्ता में बने रहने की तकनीक में एक हद की महारत हासिल कर ली है जिससे पश्चिम बंगाल और त्रिपुरा में इनकी पकड़ बनी हुई है। पश्चिम बंगाल में यह काम आसान इसलिए भी है क्योंकि अंग्रेजों ने औद्योगिक विकास की जो आधारशिला रख दी थी उसके भीतर ही काफी लोगों के गुजारे का इंतजाम होता रहा है और भद्र लोग भी चाय की चुस्की और सिगरेट का कश लेते हुए दिन गुजार देते हैं।

बिहार और उत्तर प्रदेश में प्रभावी समाजवादी आंदोलन के सामने विचारधारा का यह संकट उतना विकराल नहीं था क्योंकि पचास के दशक से ही यह कम्युनिस्ट विचारधारा से हट कर समता का एक अलग दर्शन विकसित करने में लगा था। लेकिन यह राजनीति के एक दूसरे गतिरोध में फँस गया। इस गतिरोध के पीछे एक

हद तक आरक्षण की राजनीति थी। इस संदर्भ में राजनीति के मुख्य पात्र 'आरक्षण की नीति' और 'आरक्षण की राजनीति' के बीच फर्क नहीं कर पाए और इस तरह एक ऐसी स्थिति में फँसते गए हैं जिससे समाज परिवर्तन की राजनीति पक्षाघात का शिकार हो गई है।

आरक्षण की नीति के पीछे समाज के पिछड़े समूहों को नौकरियों और नेतागिरी में विशेष अवसर देने का लक्ष्य रखा गया था। समाजवादी आंदोलन में इस नीति को महत्त्वपूर्ण स्थान देने में डॉ. राममनोहर लोहिया की खास भूमिका थी। उनका मानना था कि सैकड़ों वर्षों से जमे जातिगत संस्कारों के कारण पिछड़ी जातियों में नेतृत्व तथा अफसरी की आकांक्षा का ह्रास हुआ है और इन्हें पुनर्जीवित करने के लिए कुछ अवधि तक उन्हें आरक्षण दे आगे लाना जरूरी होगा। इस तरह महिलाओं समेत पिछड़ी जातियों को साठ प्रतिशत आरक्षण की नीति समाजवादी आंदोलन ने अपनाई। इसके अलावा जाति व्यवस्था को तोड़ने के लिए उन्होंने सहभोज एवं अंतरजातीय विवाह के आंदोलन को तेज करने की नीति अपनाने की सलाह दी। इसके पहले से भी कई पिछड़ी जातियों की ओर से आरक्षण की माँग हो रही थी। दक्षिण भारत में तो अंग्रेजी शासन में ही कुछ जातियों के लिए आरक्षण के प्रावधान थे। इसी संदर्भ में मंडल आयोग का गठन हुआ जिसकी सिफारिशों को केंद्र में विश्वनाथ प्रताप सिंह द्वारा लागू किया गया। तत्काल उत्तर भारत में इसके विरोध में भारी हंगामा हुआ। चूंकि आरक्षण की नीति से कई जातीय समूह प्रभावित होते थे, इसमें हिस्सेदारी के लिए विविध जातीय समूह गोलबंद होने लगे। सत्ता की राजनीति करने वाले राजनेताओं को इससे अपना वोट बैंक बनाने का सुविधाजनक मौका मिला। आरक्षण की नीति को 'सामाजिक न्याय' की एकमात्र नीति के रूप में पेश किया जाने लगा। अब 'सामाजिक न्याय' की आग्रही जातियों से मतदान प्रक्रिया में एकजुट होने का आह्वान होने लगा। इसकी प्रतिक्रिया में द्विज जातियाँ भी गोलबंद होने लगीं। दरअसल इससे फायदा या नुकसान एक छोटी संख्या को होना था, लेकिन इसका प्रतीकात्मक महत्त्व पूरे जातीय समुदायों के लिए था। इस तरह उत्तर प्रदेश और बिहार में राजनीति का आधार पूरी तरह जातीय वफादारी बनने लगा। राजनेताओं को इसमें सुविधा थी। चूंकि जातियों के साथ तादात्म्य बोध परंपरा से प्राप्त हो जाता है उन्हें साथ करने के लिए कभी विशेष प्रयास की जरूरत महसूस नहीं होती। पिछले तीन दशक से सभी राजनीतिक दलों ने अपनी सुविधा के अनुसार इस जातीय विभाजन को जिंदा रखने की कोशिश की है। अब वे इस विभाजन के ऐसे कैदी हैं कि इस घेरे को तोड़ नहीं सकते। वामपंथी कही जाने वाली पार्टियों ने भी यह सुविधा की नीति अख्तियार कर ली है। भाजपा ने इसके मुकाबले के लिए इससे व्यापक एकता यानी सभी हिंदुओं की एकता का ऐलान किया। इसका आधार मुस्लिम विरोध था और मुसलमानों के खिलाफ हिंदुओं की भावना को उभारने के लिए हिंदुओं के धार्मिक

प्रतीकों पर आए खतरों को ईजाद किया जाने लगा। इसके लिए भारत के मुस्लिम शासकों की सच्ची या मनगढ़ंत ज्यादतियों का एक पूरा शास्त्र विकसित करने की कोशिश चल रही है। इस क्रम में सबसे महत्त्वपूर्ण प्रतीक बाबरी मस्जिद को बनाया गया जिसे आखिर में ध्वस्त कर दिया गया। फिर भी जातीय भेद की उपस्थिति इतनी व्यापक है कि धर्म के नाम पर हिंदुओं को एकजुट करने की मुहिम असफल रही। दूसरी ओर मुसलमानों में संघ परिवार और भाजपा का भय इतना गहरा हो गया है कि उनकी सारी राजनीति इस भय से निर्धारित होती है। इससे उत्तर प्रदेश में मुलायम सिंह यादव और बिहार में लालू प्रसाद यादव के लिए मुसलमानों का समर्थन सबसे अधिक भरोसे का आधार बन गया है। दूसरी ओर आरक्षण विवाद जो पहले अगड़े और पिछड़ों के बीच था अब पिछड़ों के विभिन्न जातीय समूहों के बीच जड़ जमा चुका है। उत्तर प्रदेश और बिहार में भाजपा क्रमशः मुलायम सिंह यादव और लालू प्रसाद यादव की शक्ति का सबसे महत्त्वपूर्ण आधार है। जब तक इन राज्यों में भाजपा का सत्ता में आने का खौफ मुसलमानों पर बना रहेगा तब तक मुसलमान इससे अपने जीवन की सुरक्षा के लिए राजद और सपा का साथ नहीं छोड़ सकते। कम से कम तब तक जब तक इनकी जगह कोई ऐसी शक्ति उभरकर सामने नहीं आती जो भाजपा को सत्ता से बाहर रखने की संभावना दिखाए।

आरक्षण की नीति परंपरा के घेरों को तोड़ साझी नागरिकता की दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम थी। अज्ञानवश या स्वार्थवश राजनेताओं ने 'आरक्षण की नीति' को 'आरक्षण की राजनीति' में बदल दिया जिससे आरक्षण के नाम पर जातीय विभाजन और विद्वेष स्थायी रूप से कायम हो गया। इस तरह इसके प्रारंभिक उद्देश्य के ठीक उलटा राजनीति बिल्कुल जड़ हो गई है। कोई दूसरी नीति जातीय विभाजन के कारण अपील नहीं कर पाती। सच तो यह है कि किसी दूसरी नीति या किसी नीति पर विचार ही नहीं होता। यही कारण है कि पिछले वर्षों में नेताओं के सारे अपराधों से अवगत होने के बावजूद लोग उन्हें ही निर्वाचित करते रहे हैं। इन राज्यों में नेताओं के चरित्र और उनकी नीतियाँ चुनाव के मुद्दे नहीं रह गए हैं भले ही लोगों की गप-शप पर वे छाए रहें। न तो चारों ओर फैली बदहाली को लोग चुनाव का मुद्दा बनाने को तैयार हैं। पिछड़ों के नेता प्रायः यह बतलाने की कोशिश करते हैं कि इस राजनीति ने पिछड़ों को आत्मसम्मान दिया है। अक्सर अकादमियों में बैठे अध्येता और मीडिया के लोग भी इस आकलन में हामी भरते हैं। इधर बिहार और उत्तर प्रदेश के गरीब लोग 'स्वाभिमान' के बोझ से दरिद्रता के दलदल में लगातार धँसते जा रहे हैं।

जातीय गठजोड़ की रणनीति

इन पंक्तियों के छपते-छपते देश भर में लोकसभा चुनाव के प्रत्याशियों की तकदीर वोटिंग मशीनों में सील हो चुकी होगी। यह स्वयं में बहुत महत्त्व नहीं रखता। जो महत्त्व की बात है वह यह कि चुनाव अभियान के दौरान देश की जो राजनीतिक तस्वीर उभरी है उससे कम से कम अगले पाँच वर्ष तक राष्ट्र का भविष्य भी सील होता दिखाई देता है। कारण यह है कि कहीं मुख्यधारा की पार्टियों की तरफ से कोई ऐसा मुद्दा सामने नहीं आया जिससे देश के असंख्य पीड़ित लोगों की जिंदगी में बदलाव की संभावना खुलती हो।

गुजरात के मुख्यमंत्री के गाली-गलौज को नजरअंदाज कर दें तो भी तथ्यहीन बड़बोल ही प्रचार माध्यमों पर छाए रहे। 23 अप्रैल को छपरा (बिहार) की एक सभा में प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी स्वयं साल का सबसे बड़ा झूठ बोल गए। उन्होंने कहा कि राजग के शासनकाल में एक भी आदमी भूखा नहीं रहा जबकि इस बीच भूख से मौत के अनेक समाचार मीडिया में आते रहे हैं और लाखों लोग प्रायः बिना खाए पूरा दिन रहने को मजबूर होते रहे हैं। देश में अनेक ऐतिहासिक कारणों से गरीबी और बदहाली हो सकती है। लेकिन इससे निकलने का कोई सपना या तस्वीर भी देश के सामने नहीं हो तो यह एक दयनीय स्थिति है।

भविष्य की कोई तस्वीर और उसे हासिल करने की ऊर्जा विचारधारा से आती है। लेकिन देश के संभ्रांत और अकादमिक हलकों में घोषित विचारधारा एक उपहास की वस्तु बन गई है। इसका स्थान ले लिया है उदारीकरण और वैश्वीकरण की अघोषित विचारधारा ने, जिसके अनुसार देश को बड़े अंतर्राष्ट्रीय औद्योगिक प्रतिष्ठानों के भरोसे छोड़ देना चाहिए जिनके उत्थान से स्वतः सारे देश का उत्थान हो जाएगा। सरकारों का काम उनके उत्थान के मार्ग के अवरोधों को खत्म करना भर है। मसलन, विनिवेश के द्वारा सार्वजनिक प्रतिष्ठानों के अस्तित्व को मिटाते जाना ताकि निजी क्षेत्र जहाँ भी चाहे अपने पैर फैला सके।

कहा जाता है कि सरकार का काम व्यापार करना या उद्योग चलाना नहीं है। इसका अर्थ आज के संदर्भ में सारे सामाजिक दायित्वों से अपने हाथ-पाँव समेट लेना

है। ऐसा हो रहा है। यह चारों ओर दिखाई देता है। शिक्षा में निजी क्षेत्र के प्रवेश से यह भी एक बड़ा व्यापार बन गया है। यही स्थिति स्वास्थ्य सेवाओं की भी हो गई है। भारी तामझाम वाले बड़े निजी अस्पताल और नर्सिंग होम लोगों (यानी संपन्न लोगों) के स्वास्थ्य की देखभाल हैसियत के अनुपात में कीमत लेकर करने लगे हैं। उद्योग-धंधे, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि अगर व्यापार या व्यवसाय हैं तो मान्य नीति के तहत इन्हें देखना भी सरकार का काम नहीं है। किसी तरह का राहत कार्य भी सरकार का काम नहीं रहा। यह काम अनेक गैरसरकारी स्वयंसेवी संस्थाओं के भरोसे छोड़ दिया गया है जो प्रायः विदेशी अनुदानों पर चलती हैं। तो फिर सरकारों का काम बचा ही क्या—इसको छोड़ कि वे पुलिस और फौज के बूते लोगों पर शासन करें!

निश्चित रूप से इसकी आवश्यकता और इसके अवसर बढ़ते जा रहे हैं। आर्थिक क्षेत्र में सरकारी हस्तक्षेप के सिमटने से बेरोजगारी और गैर-बराबरी बेतहाशा बढ़ती जा रही है। इससे एक तरफ बेरोजगार नौजवानों में अनेक विविध तरह के आपराधिक कार्यों में लग गए हैं और दूसरी ओर गैर-बराबरी से बदहाल लोगों का गुस्सा तरह-तरह की विद्रोही हिंसा में फूट पड़ रहा है। तथाकथित नक्सली या आतंकवादी हिंसा जो कश्मीर, उत्तर-पूर्वी भारत, बिहार और झारखंड से लेकर ओडीशा, आंध्र और केरल तक में फैलती जा रही है, इसी स्थिति का लाजिमी परिणाम है। शासन करना दरअसल इस अघोषित युद्ध में लगे रहना भर है। सरकारी खर्च का बड़ा हिस्सा धीरे-धीरे पुलिस और सैनिक शक्ति बढ़ाने पर लग रहा है जो सरकार के शासन करने के 'उचित' (लेजिटिमेट) काम को अंजाम दे सके।

यह विडंबना ही है कि इस सारे चुनाव अभियान में जो असली समस्याएँ उभर रही हैं उन पर कोई सार्थक बहस नहीं हुई। सबसे प्रमुख मुद्दा यह रहा कि प्रधानमंत्री कौन बनेगा मानो आम चुनाव सर्वोच्च शासक के राज्याभिषेक का महोत्सव भर हो। अगर राजनीति समाज के निर्माण में दिशा देने वाली किसी विचारधारा को अस्वीकार करती है और लोगों के जीवन के महत्त्वपूर्ण मुद्दों जैसे आय, रोजगार, शिक्षा और स्वास्थ्य की जवाबदेही लेने से इनकार करती है तो फिर राजनीति और निर्वाचनों का उद्देश्य क्या हो सकता है?

यह सहज ही देखा जा सकता है कि ऐसी स्थिति में राजनीति का एकमात्र उद्देश्य किसी भी तरह सत्ता हाथ में लेना और इससे जुड़ा आर्थिक लाभ और सामाजिक प्रतिष्ठा हासिल करना है। अगर सत्ता का कोई सामाजिक उद्देश्य नहीं है तो इसे कैसे हासिल किया जाता है यानी साधन का मामला भी महत्त्वहीन हो जाता है। नीतियों के महत्त्व के गौण हो जाने से लोगों से समर्थन के लिए अपील पारंपरिक वफादारियों के आधार पर ही की जा सकती है। इसी का नतीजा है कि लगभग

सारे देश में चुनावों में जातीय या सांप्रदायिक वफादारियों को भुनाने की कोशिश हो रही है। देश में सबसे बड़ी संख्या में लोकसभा सदस्य निर्वाचित करने वाले राज्य उत्तर प्रदेश में तीनों शक्तिशाली राजनीतिक दल—भाजपा, सपा और बहुजन समाज पार्टी—सांप्रदायिक या जातीय मुद्दों के सहारे अपनी सफलता दर्ज कराने की कोशिश करते रहे हैं।

पश्चिमी उत्तर प्रदेश में अजित सिंह जाट किसानों को आधार बना रहे हैं। भाजपा सवर्णों और कुछ पिछड़ी जातियों का सहारा ले रही है; इसके अलावा अयोध्या के राममंदिर के मुद्दे से घुमाफिरा कर लोगों की भावना को उभारने की कोशिश करती रही है। मायावती दलित वोटों को आधार बना रही हैं। मुसलमानों के वोटों को लेकर सपा, बसपा और कांग्रेस—जो इधर अपना खोया आधार पाने के लिए संघर्षरत हैं में रस्साकशी है। बाकी चीजें सिर्फ दिखावा भर थीं यह सभी समझते थे। जहाँ-तहाँ कुछ स्थानीय मुद्दे, जैसे नये जिलों के निर्माण को निरस्त करना जरूर भावनात्मक बन गए।

बिहार की तो पूरी राजनीति जातीय वफादारियों पर टिकी रही है। लालू प्रसाद यादव का मुस्लिम-यादव गठजोड़ मजबूती से कायम है। इसके साथ कुछ दूसरी पिछड़ी जातियाँ और रामविलास पासवान के साथ लालू यादव के समझौते से अधिकतर दलित राजद के समर्थन में आ गए। व्यक्तिगत रूप से किसी-किसी क्षेत्र में प्रत्याशियों की लोकप्रियता या बाहुबल का महत्त्व जरूर था, लेकिन मुख्य मुद्दा सिर्फ लालू हटाओ या लालू जिताओ ही रहा। राजग की ओर से विकास का मुद्दा जरूर उठाया गया, मगर चूंकि चुनाव दिल्ली के लिए था, बिहार के विकास पर इसका सीधा असर पड़ने वाला नहीं यह सभी को दिखाई पड़ रहा था। जॉर्ज फर्नांडीज ने जरूर यह बयान देकर कि अगर राजग की सरकार बनी तो बिहार में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया जाएगा, लालू विरोधी भावना का यथासंभव फायदा उठाने की कोशिश की। लेकिन बदले में क्या बनेगा इस सवाल पर चुप्पी रही क्योंकि दरअसल वह खाता खाली ही था।

महाराष्ट्र में शिवाजी की विरासत के दावे को लेकर जो होड़ राष्ट्रवादी कांग्रेस और शिवसेना के बीच चली—जिसका लज्जाजनक पक्ष भंडारकर पुस्तकालय में तोड़फोड़ था—दरअसल उसका लक्ष्य भी मराठा मतदाताओं को अपने पक्ष में करना भर था। मध्यप्रदेश और राजस्थान में खुल कर हिंदुओं की धार्मिक भावनाओं का फायदा भाजपा ने उठाने की कोशिश की। पश्चिम बंगाल और केरल में अगर जाति या संप्रदाय का मुद्दा बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं बन पाया तो इसलिए कि इन राज्यों में वाम मोर्चा अब भी अपनी पुरानी विचारधारा के खँडहर पर खड़ा है हालाँकि वास्तविक

नीतियों में इसने तथाकथित उदारवाद के सामने यथासंभव आत्म-समर्पण की कोशिश की है। सरकारी उद्यमों के विनिवेश या बैंक और बीमा क्षेत्र में विदेशी प्रतिष्ठानों के प्रवेश का विरोध इसे इस क्षेत्र की मज़दूर यूनियनों के दबाव में करना पड़ा, जिन पर अभी तक वाम दलों का वर्चस्व है।

इन चुनावों का एक विचारणीय पहलू यह भी रहा है कि कहीं भी भ्रष्टाचार चुनावी मुद्दा नहीं बन पाया जबकि राजग शासन के पिछले पाँच साल में प्रतिभूति, तहलका, तेलगी, जूदेव प्रकरण जैसे सनसनीखेज घोटाले होते रहे, जिनमें जनता का हजारों हजार करोड़ रुपया दाँव पर लगा था, और यह सब हजम हो गया। बोफोर्स का मामला, जिसके विवाद ने राजीव गाँधी की गद्दी छीन ली, इनके सामने पनपिआई की हैसियत भी नहीं रखता था। इन घोटालों में जिन नेताओं के नाम उजागर हुए थे वे बिना लाज-लिहाज के छाती फुलाए चुनावी मैदान में सूत्रधार की भूमिका निभाते रहे। यह स्थिति उन लोगों के लिए विशेष रूप से विचारणीय है जो राजनीतिक और आर्थिक मुद्दों से निरपेक्ष चुनावों में ईमानदार व्यक्तियों को निर्वाचित करने का अभियान चलाते रहे हैं।

भ्रष्टाचार की समस्या निर्गुण नहीं है। यह वर्तमान व्यवस्था के साथ अविभाज्य रूप से जुड़ी हुई है। बिना पड़ताल किए और व्यवस्था के बुनियादी चरित्र को बदले इससे निजात नहीं मिल सकती। यह वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था को स्निग्धता प्रदान करने में चिकनाहट का काम करती रही है। कोई दिन ऐसा नहीं जाता जब विकसित पूँजीवादी देशों में राजनेताओं का नाम बड़े व्यापारिक प्रतिष्ठानों को नाजायज लाभ पहुँचाने के आरोप में नहीं उभरता हो। अमेरिका इसमें अग्रणी है, लेकिन यूरोप में भी फ्रांस, इटली, जर्मनी, ब्रिटेन आदि के नेता ऐसे आरोपों के दायरे में आते रहे हैं।

एक ऐसी व्यवस्था में जहाँ अधिक से अधिक धन कमाना और उपभोग के स्तर को बढ़ाते जाना ही जीवन का लक्ष्य हो, भ्रष्टाचार का आकर्षण स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इसे आधार इस बात से मिलता है कि एक तरफ विशाल प्रतिष्ठान हैं जिनके पास अकूत धन है और दूसरी तरफ सरकारी सत्ता है जिसके हाथ में इन प्रतिष्ठानों को सुविधा देने या वंचित करने का अधिकार है। इसी से लेन-देन का ऐसा रिश्ता कायम कर लेने का प्रलोभन बनता है जिससे राजधर्म का उल्लंघन होता है। राजधर्म का पालन हो इसके लिए निष्ठा के साथ-साथ व्यवस्था के चरित्र को भी बदलकर समुचित स्वरूप देना जरूरी है।

यहीं पर उन नागरिकों के लिए विचारधारा और दलों में सक्रिय भागीदारी की अनिवार्यता

बनती है जो वास्तव में व्यवस्था को स्वच्छ और न्यायपूर्ण बनाना चाहते हैं। नगर की नालियों के कचरे को साफ करने के ऐसे यंत्र तो उपलब्ध हैं जो कचरे में बगैर प्रवेश के सफाई को संभव बना देते हैं लेकिन राजनीति के कचरे की सफाई दलीय राजनीति में प्रवेश करने की जहमत उठाए बिना संभव नहीं। यह सच्चाई जेपी को गैर-दलीयता के अपने प्रयोगों के बाद छात्र आंदोलन और आपातकाल के दौरान दिखाई दी और उन्होंने चुनाव की चुनौती स्वीकार कर जनता पार्टी बनवाने में अहम भूमिका निभाई। इसके बावजूद अभी भी सर्वोदय और जेपी के साथ जुड़े उस समय के छात्र नेताओं के जेहन में यह बात नहीं आती। नतीजा है कि ये लोग अंततः लोकतंत्र की इस महान प्रक्रिया में दर्शक बने रहने के अलावा कोई भूमिका नहीं निभा पाते।

अभी जो ठहराव राजनीति में आ गया है उसे खत्म करने के लिए एक दीर्घकालिक राजनीतिक कार्यसूची के तहत दलीय राजनीति में प्रवेश कर्तव्य बनता जा रहा है। आधी शताब्दी की लोकतांत्रिक प्रक्रिया से देश के आम लोगों की समझ में मतदान का महत्त्व तो आ गया है, लेकिन इसका प्रयोग किसके लिए और कैसे करना चाहिए इसे समझना अभी बाकी है। इसका मार्गदर्शन बाहर से नहीं दिलीय राजनीति की जद्दोजहद के भीतर नये प्रतिमान उपस्थित करके ही किया जा सकता है। इस आम चुनाव के बाद की यही चुनौती है।

राजनीति में आरक्षण का पासा

सवर्णों को आरक्षण देने की माँग के साथ आरक्षण की नीति उस स्थिति में पहुँच गई है जिसे अंग्रेजी में 'लॉजिकल सबसर्डिटी' (तार्किक अंधी गली) कहा जाता है। आरक्षण की नीति की मूल भावना की अवहेलना कर जिस तरह इसे सत्ता के खेल का मोहरा बनाया गया है उसमें इसका हास्यास्पद स्थिति में पहुँचना अवश्यंभावी था। यह ध्यान में रखने की बात है कि नौकरियों में आरक्षण संविधान के उन अनुच्छेदों (14 और 16) के तहत आता है जिनमें नागरिकों के बीच भेदभाव मिटाने के प्रावधान थे और ये अपवाद के रूप में अपनाए गए थे। देश की सामाजिक विषमताओं को ध्यान में रखते हुए संविधान निर्माताओं ने महसूस किया था कि कुछ सामाजिक रूप से पिछड़े समूहों को जब तक कुछ विशेष अवसर नहीं दिए जाते उनके लिए समाज के शीर्ष स्थानों में पहुँचने की संभावना नगण्य रहेगी और इसीलिए आरक्षण को एक सकारात्मक भेदभाव की नीति के रूप में अपनाया गया, जो एक सीमा के भीतर नागरिकों के बीच भेदभाव को कबूल करना था। देश की आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं के समाधान का संकल्प जैसे-जैसे खत्म होने लगा आरक्षण की नीति को जड़ता की सुरक्षा की ढाल बना लिया गया। सही नीतियों के अभाव और किसी भी नीति को मुस्तैदी से लागू करने की अक्षमता से आम लोगों की बदहाली दिनोंदिन बढ़ती गई है।

- इसी स्थिति में किसी संतोषप्रद भविष्य की आशा के बदले पारंपरिक वफादारियों को जन-समर्थन का आधार बनाने की मजबूरी भारतीय राजनीति पर हावी हो गई। देश के कई राज्यों में ऐसे नेता आगे आ गए हैं जिनके पास जातियों का जमावड़ा बनाने के अलावा न तो कोई नीति है और न किसी तरह की नैतिकता। इसीलिए हम उस हास्यास्पद और दयनीय स्थिति में पहुँच गए हैं कि देश में निर्वाचित, प्रभुतासंपन्न संसद और संवैधानिक मान्यता प्राप्त न्यायालयों के रहते हुए शंकराचार्यों और मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड जैसे अनिर्वाचित और क्रमशः हिंदुओं और मुसलमानों के स्वघोषित प्रतिनिधियों के बाबरी मस्जिद जैसे विवाद में हस्तक्षेप को बर्दाश्त कर रहे हैं। वे ही लोग जो सत्ता की राजनीति में ऐसे मुद्दों को उभार रहे थे अब उसके नतीजों का सामना करने से कतरा रहे हैं और असवैधानिक सत्ता-केंद्रों के हाथ देश

के महत्त्वपूर्ण मसलों के निर्णय का अधिकार सौंपने की कोशिश कर रहे हैं। सवर्णों को आरक्षण देने की माँग भी दूसरी तरह से देश की मूल समस्याओं से भागने की नीति की ही तार्किक परिणति है।

प्रशासनिक सेवाओं में ब्राह्मणों के एकाधिकार के खिलाफ जस्टिस पार्टी के नेतृत्व में आरक्षण का मुद्दा दक्षिण भारत में बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में उठाया गया था। धीरे-धीरे वहाँ यह मुद्दा शक्तिशाली द्रविड़ आंदोलन के साथ जुड़ गया। डॉ. राममनोहर लोहिया ने इसमें पिछड़ों की शक्ति को समाजवादी आंदोलन से जोड़ने की संभावना देखी और इसके औचित्य का एक कायल करने वाला तर्क प्रस्तुत किया। उनके अनुसार भारतीय जाति व्यवस्था ने ऐसे जातीय संस्कार पैदा किए हैं कि पिछड़ी जातियों में उच्च स्थानों पर पहुँचने की आकांक्षा भी मर चुकी है। उनमें यह आकांक्षा जगाने के लिए जरूरी हो गया है कि उन्हें अफसरी, नेतागिरी आदि क्षेत्रों में साठ प्रतिशत आरक्षण दिया जाए। पिछड़ों में वे शूद्र, दलित और औरत सभी को शामिल करते थे। वे शिक्षा में आरक्षण के विरुद्ध थे और मानते थे कि सभी लोगों को उच्च शिक्षा का अवसर मिलना चाहिए और अगर इसके लिए स्थान कम है तो स्थान बढ़ाना चाहिए। यह ध्यान देने की बात है कि डॉ. लोहिया ने सभी नौकरियों में आरक्षण की बात नहीं की। सिर्फ ऊँचे पदों और नेतागिरी में आरक्षण की बात की। जाति व्यवस्था और देश की पूरी आबादी की आवश्यकता के संदर्भ में उनकी बातों को समझना आसान है।

जाति व्यवस्था से जो अक्षमता शूद्रों में पैदा हुई थी वह ऊँचे पदों पर पहुँचने में ही थी। किसी कारखाने में चतुर्थ श्रेणी का काम, जिसमें शारीरिक श्रम की जरूरत होती है, वह तो वर्ण व्यवस्था के तहत पहले से ही शूद्रों के लिए आरक्षित था। इसमें काम करने के संस्कार का अभाव कहीं था तो सवर्णों में। फिर भी अगर सभी तरह की नौकरियों में आरक्षण का प्रावधान किया गया तो इसका एक ही कारण था—देश के नेताओं ने यह मान लिया था कि देश के हर व्यक्ति को रोजगार देना उनकी जवाबदेही नहीं, और मोटामोटी देश के लोगों को स्थायी बेरोजगारी की स्थिति को कबूल कर लेना चाहिए। उपलब्ध रोजगारों में आरक्षण का प्रावधान कर वे इससे लाभान्वित होने वाले समूहों में अपने लिए सिर्फ समर्थन का आधार बनाना चाहते थे। इसका एक अनिवार्य पहलू था जातियों के बीच विद्वेष पैदा होना। अगर समाज की समस्याओं का समाधान आरक्षण से ही होना था तो समाज का दो हिस्सों में बँटना भी अपरिहार्य था—आरक्षण से लाभान्वित होने वाले और इसके लाभ से वंचित होने वालों के बीच। बेरोजगारी के कारण घोर असुरक्षा के बीच रहने वाले युवजनों में इस विभाजन से विभाजन रेखा के दूसरी ओर रहने वालों के खिलाफ गहरा क्षोभ और संवादहीनता पैदा हुई।

इस माहौल में साथ बैठ कर देश और समाज की अनेक समस्याओं पर विचार करने की बात तो सोची भी नहीं जा सकती थी। जिन लोगों के लिए आरक्षण वोट बैंक बनाने का जरिया था उनके लिए यह संवादहीनता वरदान थी। दोस्त और दुश्मन के बीच चुनाव करना आसान था। इसलिए जातीय विद्वेष को यथासंभव हवा देने की कोशिश हुई और कई जगह जातीय दंगे भी हुए। अगर 'अगड़े' और 'पिछड़े' भेदभावहीन समेकित समूह होते तो यहूदियों और फिलिस्तीनियों की तरह इनका विभाजन स्थायी होता और वोट बैंक में दरार पड़ने की कोई आशंका नहीं होती। कठिनाई यह थी कि अगड़े, पिछड़े और दलित स्वयं सैकड़ों हिस्सों में बँटे थे और उनकी अलग और अविभाज्य पहचान सिर्फ दूसरों के विरोध में ही प्रकट होती थी। इस विरोध के हटते ही अगड़े, पिछड़े और दलित इनमें प्रत्येक दर्जनों या सहस्रों खंडों में बँटे हुए थे।

किसी सुविचारित अर्थनीति के अभाव में जीवन के अवसर दिनोंदिन संकुचित होते गए हैं और इनका लाभ उठाने वाले समूहों की संख्या बढ़ती गई है। इसलिए पिछड़ों में अति पिछड़ों के लिए अलग आरक्षण की माँग बढ़ी और दलितों में भी जातियों का विभाजन होने लगा और क्षेत्रीय आधार पर सीमित स्थानों के लिए लड़ाई शुरू हुई। इसी से अल्पसंख्यकों को पिछड़ों और दलितों की तरह आरक्षण देने की बात शुरू हुई और अब गरीब सवर्णों को आरक्षण देने की हास्यास्पद माँग शुरू हुई है जिसके लिए न तो कोई संवैधानिक आधार है न कोई दूसरा तर्क। इस मोटी-सी बात को नजरअंदाज किया जा रहा है कि इस देश की विशाल जनसंख्या गरीब या अति गरीब है और उसकी स्थिति को समाज के आर्थिक ढाँचे के आमूलचूल परिवर्तन से ही सुधारा जा सकता है, मुट्ठी भर लोगों को आरक्षण देकर। गरीब सवर्णों को आरक्षण देने की बात करके यह भ्रम भी फैलाया जा रहा है कि सवर्णों में गरीबों की संख्या छोटी है और इसे आरक्षण से लाभ पहुँचाया जा सकता है, जबकि हकीकत यह है कि सवर्णों का भारी बहुमत अति गरीब और दरिद्र है भले ही इसका एक छोटा-सा हिस्सा पूँजी और नौकरियों में अपने वर्चस्व से दुनिया के अमीरों की श्रेणी में पहुँच गया हो। इन गरीब सवर्णों की तकदीर देश के बाकी गरीबों के साथ बँधी है। उनके साथ मिलकर समाज परिवर्तन के संघर्ष में शामिल होकर ही ये अपनी हालत सुधार सकते हैं। आरक्षण विवाद से देश के संकल्प को खंडित कर राजनीतिक लाभ उठाने का जो सिलसिला शुरू हुआ था उसी की एक परिणति सवर्णों के लिए आरक्षण की माँग के रूप में सामने आई है।

आरक्षण विवाद ने देश की अर्थनीति और राजनीति पर दूसरे गंभीर विवादों को नष्ट किया है। देश की प्रशासनिक गिरावट में भी इसका बड़ा योगदान है। आरक्षण के

पक्ष में अक्सर यह तर्क भी दिया जाता था कि नौकरियों में सवर्णों के वर्चस्व से पिछड़ों और दलितों के हित में प्रशासन काम नहीं करता है और आरक्षण से यह स्थिति बदल जाएगी। इसी तर्क को बढ़ा कर न्यायपालिका में भी आरक्षण का समर्थन किया जाता रहा है। इसमें संदेह नहीं कि कहीं-कहीं ऐसा पक्षपात होता रहा है। लेकिन आरक्षण से यह बीमारी मिटाई नहीं जा सकती। इसका एकमात्र हल है प्रशासन पर ऐसा दबाव बनाए रखना कि यह बिना भेदभाव के नियम कानून का शत-प्रतिशत पालन करे। अंग्रेजों के शासन काल में और उसके बाद के कुछ वर्षों में भी ऐसी परंपरा चली। लेकिन इसके बाद से प्रशासन में मंत्रियों और विधायकों का हस्तक्षेप बढ़ा और इसमें जात-पाँत के कारण लोगों की पहुँच शासकों और प्रशासकों तक आसानी से होने लगी, जो पहले वर्जित था। प्रायः अफसरों की प्रतिनियुक्तियाँ जात-पाँत के आधार पर होने लगीं। इसमें प्रशासनिक तटस्थता और कर्तव्य के प्रति निष्ठा का नष्ट होना अवश्यंभावी था। सीढ़ी दर सीढ़ी भ्रष्टाचार का पर्दापण होता रहा—पहले जाति, फिर रिश्तेदारी और फिर सीधा रिश्वत!

जातीय अपील के आधार पर चुने गए विधायकों और मंत्रियों के लिए प्रशासनिक मामलों में जाति की बात को अनसुना करना असंभव था। एक बार जब प्रशासनिक मर्यादा खत्म हो गई तो वह सबसे आसान गली अपनाने लगी है। रिश्वत की गली। अब कार्यालयों के बाबुओं से लेकर मंत्रियों तक भ्रष्टाचार का राजमार्ग खुल गया है। जो बेचारे इक्के-दुक्के ईमानदार अफसर रह गए हैं, घुटन महसूस करते हैं। अपराध तंत्र के अक्षुण्ण रहने के पीछे भी जातीय संरक्षण का बड़ा हाथ है। अपराधी गिरोहों और जातीय नेताओं के बीच गहरे रिश्ते विकसित हो गए हैं।

अगर जातियों के आधार पर होने वाली राजनीति के खिलाफ अभियान नहीं चला तो देश का बेड़ा गर्क ही है। अभी भी ऐसे सदाशयी बुद्धिजीवियों की कमी नहीं है जो जमीनी हकीकत से दूर महानगरों के वंद कमरों से मंडल कमीशन और आरक्षण की महिमा का बखान करते रहते हैं। वे यह नहीं देख पाते कि उस नीति की एक सीमित उपयोगिता थी लेकिन उसका ऑब्सैसन राष्ट्र के विवेक को ही नष्ट कर रहा है। राजनेता आश्वस्त हैं कि वे कुछ करें या न करें—लोग कितने ही बदहाल हों, वोट तो देंगे जातीय समीकरण के हिसाब से और इसमें जीत उन्हीं की होगी जो जातियों के जोड़ में माहिर होंगे। सवर्णों के आरक्षण का शिगूफा आगामी चुनाव के पहले उस विवाद को हवा देने का प्रयास है जिससे लोग यह पहचान आसानी से कर सकें कि उनकी जाति का दोस्त और दुश्मन कौन है। इससे सवर्णों को आरक्षण मिले या न मिले इस विवाद को उठाने वालों के जातीय वोट तो आरक्षित हो ही जाएँगे।

गाँठों में उलझा लोकतंत्र

आम चुनाव के बाद सांप्रदायिक फासीवाद के उभार से तो मोहलत मिल गई है, लेकिन अभी तक देश के आम लोगों की समस्याओं के समाधान की दिशा में विजयी समूहों से किसी स्पष्ट नीति का संकेत नहीं मिलता। दरअसल, चुनाव के नतीजे स्वयं देश की मनःस्थिति की एक अस्पष्ट तस्वीर ही पेश करते हैं। मोटा-मोटी तौर से यह तो दिखाई देता है कि गरीबी में रह रहे आम लोग उच्च वर्गों के तामझाम और उनकी ताकत बढ़ाने वाली राजनीति के प्रति शंकालु हैं, लेकिन उन्होंने राष्ट्रीय स्तर पर वैसे राजनीतिक समूहों को चिह्नित नहीं किया है जिनकी कार्य-सूची के प्रति वे पूरी तरह आश्वस्त हों। अभिजात वर्गीय अर्थतंत्र के प्रति सार्वभौमिक संशय को छोड़ दें तो चुनाव के नतीजे मूलतः देश के राज्यों और अंचलों के स्थानीय, जातीय, जनजातीय और सांप्रदायिक हित संबंधों के टकराव और तालमेल से ही निर्धारित हुए हैं।

यही वजह है कि बिहार, उत्तर प्रदेश और आंध्र प्रदेश जैसे राज्यों के नतीजे कर्नाटक, ओडीशा या मध्यप्रदेश के नतीजों से बिल्कुल उलटे दिखाई देते हैं। इसमें राजनीतिक जड़ता का भी संकेत है भले ही पहली नजर में पारंपरिक जाति-संबंधों का ढाँचा टूटता दिखाई दे। राजनीति में जिस अनुपात में जातीय और दूसरी पारंपरिक वफादारियाँ मजबूत हुई हैं उसी अनुपात में आर्थिक नीतियों को गतिशील करने वाले मुद्दे हाशिए पर चले गए हैं। इससे साम्राज्यवादी शक्तियों और उनकी समर्थक देश की भीतरी यथास्थितिवादी शक्तियों के विकल्प में कोई राजनीति नहीं उभर पाती। लोकतंत्र के आंतरिक दबावों के संदर्भ में ही हम अपनी राजनीति के इन रुझानों को समझ सकते हैं।

प्रजातंत्र की हमारी अवधारणा पूरी तरह पश्चिमी देशों के लोकतंत्र के विकास और वहाँ के सोच पर आधारित है। प्राचीन यूरोप में इसका चर्चित नमूना यूनान के एथेंस का जनतंत्र था जिसके नागरिक अपनी छोटी संख्या के कारण राजनीतिक निर्णयों में सीधे हिस्सेदार होते थे। बाद में रूसो की प्रत्यक्ष जनतंत्र की अवधारणा एक आदर्श के रूप में यूरोपीय मानस पर छाई रही। इसमें प्रतिनिधित्व द्वारा अप्रत्यक्ष लोकतंत्र का निषेध था। बड़े राज्य में इसकी सीमा फ्रांस की 1789 की क्रांति के समय उजागर हुई। जब पेरिस की उन्मादी भीड़ द्वारा ही क्रांति की दिशा निर्धारित

होने लगी। इस घटना का पटाक्षेप अंततः नेपोलियन के सैनिक हस्तक्षेप और साम्राज्य की स्थापना में हुआ। इसके बाद से लोकतंत्र कई स्तरीय प्रतिनिधित्व पर आधारित होता गया लेकिन रूसो की जन इच्छा (जनरल विल) की अवधारणा अब भी जनादेश (पॉपुलर मैंडेट) के नाम से राष्ट्रीय चुनावों के नतीजों में ढूँढ़ी जाती है।

अगर इसके नकारात्मक पहलू—सत्ताधारी के विरोध में मत—को छोड़ दें तो यह जनादेश राजनीतिशास्त्रियों की कल्पना और इच्छा के बाहर कहीं अस्तित्व में नहीं होता। अपनी सुविधा के अनुसार राजनेता ऐसे विविधार्थक 'जनादेश' का अर्थ निकालते रहते हैं। जब पश्चिम के बड़े राज्यों में 'जनता द्वारा जनता के शासन' के मिथक की असलियत राजनीतिशास्त्रियों को दिखाई देने लगी तो इसके प्रति दो विपरीत दृष्टियाँ अपनाई गईं। कुछ राजनीतिशास्त्री इसमें दबावमूलक समूहों (प्रेशर ग्रुप) द्वारा लोकतंत्र को सीमित करने का प्रयास देखने लगे। इसमें उन्हें लोकतंत्र का अधूरापन दिखाई देता था। इसका निहितार्थ यह भी था कि लोकतंत्र को सीमित करने वाले इन प्रयत्नों को विफल किया जाए। दूसरी ओर ऐसे राजनीतिशास्त्री हैं जो लोकतंत्र को भी बाजार का खेल भर मानते हैं और मतदाता को रिझा-बझा कर उसके मतों का प्रयोग मुद्रा की भाँति करके राजनीति में हिस्सेदारी खरीदने को जायज समझते हैं।

बाजारवाद के युग में राजनीति का यह दूसरा प्रतिमान ही जनमानस पर हावी होता जा रहा है—यानी मीडिया द्वारा दलों को किसी दूसरी बिक्री की वस्तु की तरह विज्ञापित कर इसके पक्ष में मत जुटाने भर का लक्ष्य या आदर्श। इससे लोकतांत्रिक संस्थाओं पर मीडिया को नियंत्रित करने वाले संपन्न समूहों का प्रभुत्व बढ़ा है। हमारे देश के पिछड़े ग्रामीण इलाकों में जहाँ मीडिया की पैठ सीमित है, यह काम सूचना को संप्रेषित करने वाले पारंपरिक माध्यमों जैसे आपसी बातचीत, कानाफूसी और जातीय पंचायतों के फरमान आदि से होता है। ये माध्यम अभी भी सशक्त हैं और चुनाव परिणामों पर स्थानीयता की छाप इसी का परिणाम है। इससे प्रारंभिक दिनों में लोकतंत्र का प्रयोग जिस तरह समाज के आर्थिक ढाँचे को बदलने की दिशा में होता था वह रुक गया और लोकतंत्र को यथास्थिति को बरकरार रखने का माध्यम बनाया जाने लगा।

इसी से यह धारणा भी मजबूत हुई कि लोकतंत्र दरअसल अभिजात समूहों के बीच—इनमें जातियों का नेतृवर्ग भी शामिल हो गया है—सत्ता हस्तांतरण का खेल भर है जिसमें आम मतदाता सिर्फ मोहरा बन कर रह सकते हैं। परिणामस्वरूप चरमपंथी

क्रांतिकामी समूहों में लोकतांत्रिक व्यवस्था को ध्वस्त करने की प्रवृत्ति भी पैदा हुई। उनकी दृष्टि में जिस तंत्र में आम लोगों के हितों का प्रतिनिधित्व ही न हो सके उस तंत्र को जीवित रखने का कोई अर्थ नहीं है। लेकिन विकल्प उनके पास भी नहीं है—उनके लिए बंदूक की नली से जो निकल आए वही क्रांति है। यहाँ सवाल अनुत्तरित ही रह जाता है कि बंदूक की नली से 'जन इच्छा' निकलेगी कि बंदूकधारियों की इच्छा। जो हो, फिलहाल तो लोकतंत्र को जनता के हितों के समीप लाने और अभिजातीय या पारंपरिक जातीय गाँठों से मुक्त करने का विकल्प ही हमारे सामने बचा रहता है।

जब हम पारंपरिक गाँठों से लोकतंत्र को मुक्त करने की बात सोचते हैं तो एक विडंबनापूर्ण स्थिति दिखाई देती है। जाति व्यवस्था के कारण भारतीय समाज में बौद्धिक ज्ञान और व्यवस्था चलाने का कौशल द्विज जातियों में सिमट गया था। अंग्रेजी शिक्षा का लाभ भी प्रायः उन्हीं जातियों को मिला जो पारंपरिक शिक्षा हासिल करती रही थीं। इससे समाज में एक घोर असम स्थिति पैदा हो गई थी जिसमें राजनीति और आर्थिक व्यवस्था दोनों में नेतृत्व ब्राह्मण-बनिया की विविध जातियों के हाथ में सिमटा था। स्वाभाविक था कि भारत के लोकतांत्रिक संविधान में इस असममिति को मिटाने के प्रावधान हों।

इसी के लिए नौकरियों और शैक्षणिक संस्थानों में भी आरक्षण का प्रावधान किया गया। इसके पीछे मूल उद्देश्य पारंपरिक जाति व्यवस्था को मिटाकर एक समान नागरिकता स्थापित करना था। चूंकि नौकरियों में अफसरी के ओहदे कभी भी आबादी के हिसाब से दो-चार प्रतिशत से ज्यादा नहीं हो सकते थे, पिछड़ी और दलित जातियों और द्विज जातियों के भारी बहुमत की स्थिति को सुधारने के लिए भी समाज के आर्थिक ढाँचे में आमूलचूल परिवर्तन ही एकमात्र उपाय था। आजादी के प्रारंभिक दिनों में इस आवश्यकता के अनुरूप देश में वामपंथी विचार और संगठन में उभार आया। लेकिन पिछड़ी और दलित जातियों का छोटा-सा तबका, जो शिक्षा और नौकरियों में स्थान पा रहा था, अपने वृहद समाज के उत्थान के प्रति लापरवाह होता गया और उसकी सारी राजनीति आरक्षण के इर्दगिर्द सिमट गई।

चूंकि आरक्षित पद कभी भी बहुत थोड़े ही हो सकते थे और जातियाँ अनेक थीं, इन पदों में हिस्सेदारी के लिए पिछड़ी और दलित जातियों के अलग-अलग धड़े जातीय आधार पर संगठित होने लगे। आरक्षण के प्रावधान के पहले भी अगड़ी जातियों में सरकारी और शिक्षण संस्थानों में स्थान के लिए गिरोहबंदी चलती थी। लेकिन आजादी के आंदोलन और वामपंथ के उदय के काल में बड़े उद्देश्यों के आगे आने से इस पर एक हद का विराम लग गया था। अब धीरे-धीरे आरक्षण-समर्थन और आरक्षण-विरोध के इर्दगिर्द जातीय भावनाओं का उभार फिर इन जातियों में आया। इसकी परिणति हाल में द्विज जातियों के लिए आरक्षण की हास्यास्पद माँग में दिखाई

देती है। इस तरह, वैसे आंदोलन का स्थान, जिसमें आर्थिक अभाव में रह रहे समाज के विशाल बहुमत को मानवीय जीवन दिया जा सके, हाशिए पर चला गया और राजनीति जातियों के इर्दगिर्द सिमटने लगी।

सभी जातियों और संप्रदायों के वोट बैंक बन गए जिन्हें सिर्फ पारंपरिक अपील से चुनावी मुहिम में जोड़ा जा सकता है। जब पिछड़ी और दलित जातियों की गरिमा की तलाश उनके जीवन स्तर को उठाने की दिशा में नहीं होती बल्कि इसमें होती है कि उनके नेता सामंती तामझाम में अगड़ी जातियों के नेताओं से कितना आगे निकल जाते हैं। बीबीसी की एक रपट के अनुसार लालू प्रसाद की बड़ी बेटी की शादी अपनी शान-शौकत में सौ साल में बेमिसाल बतलाई जाती है। अखबारों में प्रकाशित रपट के अनुसार उत्तर प्रदेश में चुनाव के समय नामांकन पत्र में संपत्ति के जो विवरण दिए गए थे उसमें मायावती दहाई में करोड़ के आंकड़े के साथ सबसे अव्वल और मुलायम सिंह इकाई में करोड़ के आंकड़े से दूसरे नंबर पर थे। इसमें पहली दलितों की नेता हैं और दूसरे पिछड़ों के।

दिलचस्प बात यह है कि विरोधियों ने इसकी ओर उँगली भले ही उठाई हो, इन नेताओं के समर्थकों में इससे किसी तरह का संशय नहीं पैदा हुआ। यह जातीय वफादारी इतनी जबर्दस्त है कि ये नेता बिना किसी हिचक के देश के सबसे बड़े पूँजीपतियों और संपन्न मनुवादियों से साँठगाँठ कर सकते हैं और ऐसी व्यवस्था को मजबूत बना सकते हैं जो गरीब दलितों और पिछड़ों को सदा भुखमरी के कगार पर रखती है। अपनी पकड़ बनाए रखने के लिए इन्हें सिर्फ अपनी जातीय गरिमा या उत्पीड़न के मिथकों और प्रतीकों को जिलाए रखना भर जरूरी होता है।

जनमत बनाए रखने में मिथक यथार्थ से कहीं अधिक सबल साबित हो रहे हैं। लोकतंत्र की सफलता के लिए मनुष्यों के बीच आवश्यक संवाद में ये गाँठें बड़ी बाधा हैं। इस जड़ता को तोड़ने में शिक्षितों की नयी पीढ़ी की भूमिका हो सकती थी। लेकिन वैसी शिक्षा जो समाज और निसर्ग से आदमी के संबंधों को समझने और इन संबंधों को बदलने की प्रेरणा देती थी स्वयं संकटग्रस्त है। अब शिक्षा का अर्थ पेशे की शिक्षा हो गई है जिसमें आईआईएम जैसी संस्थाओं से मुनीम तैयार करने को प्राथमिकता दी जाती है क्योंकि सारे संसार को बाजार के रूप में तब्दील करने पर जोर है। इसमें थोड़े से उत्पादक होते हैं और बाकी लोग वस्तुओं और सेवाओं के खुदरा या थोक विक्रेता या क्रय-बिक्री केंद्रों के प्रबंधक। मानवीय सरोकार वहीं तक प्रासंगिक है जहाँ तक व्यवस्था को 'मानव संसाधन' जुटाने या इनकी कटौती की जरूरत होती

है। बराबरी-गैर-बराबरी, न्याय-अन्याय जैसे शब्द इस व्यवस्था की शब्दावली से गायब होते जा रहे हैं। एक ही कसौटी रह गई है, नफा और घाटे की कसौटी।

स्थिति शायद तब बदले जब वे लोग जिनकी स्थिति असह्य होती जा रही है प्रबंधन की शब्दावली के घटाटोप से बाहर निकलकर न्याय-अन्याय जैसे शब्दों को अपने जीवन के अनुभवों से पुनःपरिभाषित करेंगे और इस व्यवस्था की बुनियाद पर हमला करेंगे। तब या तो लोकतांत्रिक व्यवस्था अपनी गाँठों से मुक्त हो अपने को इस नयी चुनौती के अनुरूप बदलेगी या सारी व्यवस्था कोलाहल और विघटन में समाप्त हो जाएगी।

नये संयुक्त मोर्चे की आवश्यकता

केंद्र में एक दल का शासन स्थापित हो या किसी संयुक्त मोर्चे का, वर्तमान राजनीतिक दलों के चरित्र को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि वे मूलभूत सामाजिक परिवर्तन के माध्यम नहीं हो सकते। ऐसा इसलिए है कि इससे न तो इनके नेतृत्व के स्वरूप में न इनके जनाधार में कोई बदलाव आ सकता है। पार्टियों के बिल्ले में अंतर के बावजूद ये अभी भी औपनिवेशिक बनी हुई हैं। वोट पाने या संगठन को बढ़ाने के अपने कार्यक्रम में ये दल आबादी के उन हिस्सों पर कतई ध्यान नहीं देते जो हिस्से आंतरिक औपनिवेशिक व्यवस्था से क्षतिग्रस्त हुए हैं। समाज के मुखर हिस्से—आधुनिक संगठित क्षेत्रों के अंतर्गत शहरी मध्यम वर्ग, निम्न मध्यम वर्ग, औद्योगिक मजदूर और संपन्न किसान—राजनीतिक दलों का ध्यान पहले ही आकर्षित कर लेते हैं। सामान्यतः अनुसूचित जातियों और अत्यधिक पिछड़ी जातियों से आनेवाले भूमिहीन मजदूरों, छोटे और सीमांत किसानों, परंपरागत कारीगरों तथा सेवाक्षेत्र में कार्यरत कम मजदूरी पानेवालों की बहुत बड़ी श्रेणी को राजनीति शायद ही छू पाती है। यही बात संपूर्ण देश की जनजातीय जनता के साथ भी लागू है। जिस प्रकार का आर्थिक विकास चल रहा है, उसमें इन हिस्सों को सीमांत पर अवस्थित माना जाता है और फलस्वरूप राजनीति के लिए भी वे सीमांत पर स्थित बन गए हैं। जब उनके साथ घटी किसी किस्म की सनसनीखेज ज्यादती की घटना प्रकाश में आती है, या जब उनका कोई हिस्सा किसी घोर अन्याय की घटना पर विद्रोह कर बैठता है, तब राजनीतिक व्यवस्था उनके अस्तित्व के प्रति सजग होती है, तब उन्हें कोई अस्थायी राहत दी जाती है और फिर उन्हें भूल जाया जाता है। शहरी क्षेत्रों में गंदी बस्तियों या झुग्गियों में रहनेवालों के साथ भी ऐसा ही सलूक किया जाता है। इस श्रेणी में उद्योगों के अनियत मजदूर, घरेलू नौकर, ठठेरे, फेरी लगानेवाले, रिक्शा चालक, खोमचा लगानेवाले, विभिन्न व्यवसायों तथा उद्योगों में सिर या पीठ पर बोझ उठानेवाले कुली आते हैं। ये लोग शहरी क्षेत्र में निवास करते हुए भी शहर के अभिन्न अंग नहीं होते। असल में इस आबादी का बहुत बड़ा भाग शहरों में देहाती गरीब तबके का ही विस्तार है, अर्थात् ये ऐसे लोग हैं जिन्हें रोजगार और

भोजन के अभाव में गाँव से बाहर ठेल दिया गया है, और जो शहरों में जैसे-तैसे जी सकने की कोशिश में लगे हैं। ये लोग ग्रामीण क्षेत्र के शहरी क्षेत्र द्वारा हो रहे शोषण की उपज हैं। गाँवों के दरिद्रतम हिस्से को इस शोषण का मुख्य आघात सहना होता है। शहरों को सस्ते श्रम के रूप में इन मजदूरों की जरूरत तो है, पर विकास और कल्याण की उनकी योजना में इनके लिए कोई स्थान नहीं है। अधिक से अधिक यही किया जाता है कि उनमें से कुछ को शहर की सीमा पर फूस के झुग्गी-झोंपड़ियों और चालों में बसा दिया जाता है, ताकि शहर साफ-सुथरा बना रहे। सारा प्रशासन आबादी के एक छोटे हिस्से—ग्रामीण और शहरी की जरूरतों को पूरा करने में लगा है। संपूर्ण राजनीतिक नेतृत्व, चाहे उसका बिल्ला जो भी हो, मनोवैज्ञानिक तौर पर थोड़े से खुशहाल लोगों की दुनिया में अपने को समेटे हुए है, यों तो समय-समय पर वह गरीबों के लिए अपनी चिंता को अभिव्यक्ति देता है। नतीजतन, भारत की राजनीति में गतिरोध एक विशेषता बन गया है। राजनीति को समृद्धि के साफ-सुथरे घेरे से बाहर निकालकर उन करोड़ों लोगों के जीवन की ओर, जो उम्मीद खोकर महज जी सकने की कोशिश में लगे हैं, उन्मुख करने का शायद ही कोई प्रयास होता है। जैसा कि प्रारंभ में ही बताया गया, चुनाव के दौरान खर्चीले पोस्टर-युद्ध और अद्यतन संचार माध्यमों की चालबाजी के बीच ही देश के विभिन्न भागों के लोगों के ठंड से मरने की खबरें समाचारपत्रों में छपी थीं। परंतु इन पर किसी का ध्यान नहीं गया। यह चुनावी मामला नहीं था, क्योंकि मरनेवाले समाज के उस हिस्से से आते थे जिसे आधा पेट ही भोजन मिल पाता है, जिसकी देह पर पर्याप्त वस्त्र नहीं हैं, जिसे समुचित आवास नहीं है और चुनाव प्रचार के दौरान खलबली मचानेवाले राजनेताओं तक भी पहुँच नहीं है। ऐसा इसलिए है कि उनके ऊपर के जो थोड़े-से लोग हैं वे ही उनकी ओर से राज-नेताओं से बात करते हैं और नेताओं के इस या उस पक्ष के लिए वोट बटोरते हैं और यह बिना समझे होता है कि यह हल्ला-हंगामा आखिर किसलिए। अपने वोटों के लिए होनेवाली छीनाझपटी से ये गरीब समझते हैं कि उनके वोटों का बहुत महत्त्व है, पर वे इसके महत्त्व के बारे में थोड़े चक्कर में रहते हैं और यह नहीं जानते कि कैसे इन वोटों को अपने हित में प्रभावकारी बनाएँ। इसका मतलब हुआ कि वे कोई ऐसी पार्टी न तो पा सके हैं न बना पाए हैं, जिसे ये सचमुच अपनी समझ सकें। यही भारत के राजनीतिक गतिरोध की जड़ में है। वर्तमान व्यवस्था का केंद्र निर्जीव हो गया है। यदि व्यवस्था को इस स्थिति से उबरना है तो भारत की आबादी के इस हिस्से को जो बहुसंख्या का गठन भी करती है, व्यवस्था के केंद्र के पास प्रतिष्ठित करना होगा।

यदा-कदा, जब जीवन असहनीय हो जाता है, या इनके शोषक इनके घोर अपमान का कृत्य कर बैठते हैं, तब ये गरीब विद्रोह कर बैठते हैं। पर ये विद्रोह छुट-पुट होते हैं और आहत भावनाएँ जैसे ही तत्काल के लिए शांत हो जाती हैं,

ये विद्रोह या तो दबा दिए जाते हैं, या स्वतः शांत हो जाते हैं। ये कुछ बदल नहीं पाते हैं। ये तभी प्रभावकारी हो सकते हैं जब ऐसे सभी तिरस्कृत समूहों की आकांक्षाएँ जुड़कर एक निश्चित दिशा का संकेत देनेवाली विचारधारा का रूप ले लें। जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, दलितों और जन-जातियों के आंदोलन पहले भी हुए हैं और उन लोनों ने अपने को क्रमशः रिपब्लिकन पार्टी और झारखंड मुक्ति मोर्चा जैसी पार्टियों में संगठित करने का प्रयास किया है। परंतु जैसा कि हमने पहले देखा है, ये पार्टियाँ दलितों या जनजातियों के बहुमत का समर्थन प्राप्त करने में भी विफल रही हैं। बिहार का झारखंड मुक्ति मोर्चा भी जिसे प्रारंभ में अन्य जनजातीय संगठनों की तुलना में अधिक सफलता मिली थी, एक छोटी क्षेत्रीय पार्टी बनकर रह गया है। राष्ट्रीय राजनीति की बात तो छोड़ ही दें, राज्य की राजनीति को भी प्रभावित करने में यह अक्षम रही है। तमिलनाडु और महाराष्ट्र के किसान आंदोलनों का यद्यपि व्यापक आधार था, पर वे भी राजनीति पर कुछ अधिक प्रभाव डालने में विफल रहे हैं। लोकसभा में अपना प्रतिनिधि भेजने के मामले में तमिलनाडु के किसान आंदोलन को तब गहरा धक्का लगा जब इसका उम्मीदवार बुरी तरह हार गया। बेहतर दृष्टि और संगठनवाला कर्नाटक रैयत संघ भी चुनावी राजनीति में प्रभावकारी तौर पर प्रवेश करने में विफल रहा, जब इसने सात लोकसभा क्षेत्रों में सात जन-उम्मीदवारों को समर्थन दिया।

इन सब बातों से एक सबक मिलता है। समाज के विशेष हितों के इर्द-गिर्द चलनेवाले आंदोलन चाहे जितने भी मजबूत क्यों न हों, जनता के बीच यह विश्वास पैदा नहीं कर पाते हैं कि वे सामाजिक समस्याओं का समाधान करने में सक्षम हैं। जनता ठीक ही समझती है कि ये समस्याएँ बहुआयामी हैं। जनता के ये सब हिस्से अंतःसबंधों की उस जटिल प्रणाली के अंश हैं जिसका अन्य दूसरे हिस्सों से भी सरोकार है। अतः आबादी के किसी अंश—किसान, दलित या जनजाति—को अपनी समस्याओं का निदान संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था के संदर्भ में ढूँढ़ना होता है। अतः उन्हें अपनी समस्याओं का समाधान अलगाव में नहीं बल्कि समाज की संपूर्ण संरचना के परिवर्तन के माध्यम से खोजना है। ऐसे प्रयास के साथ समय की बात भी जुड़ी हुई है। जनता अंतर्बोध से यह बात जानती है कि समाज के आमूल परिवर्तन में लंबा समय लगता है, कभी-कभी तो कई पीढ़ियाँ लग जाती हैं। जब तक कोई संगठन अपनी विचारधारा द्वारा समय-क्रम में निरंतरता का बोध नहीं करा पाता, उसे गंभीरता से ग्रहण नहीं किया जाता। यहीं हमें इस बात का उत्तर मिल सकता है कि जनता क्यों इन आंशिक प्रतिनिधित्ववाले संगठनों को चुनाव के मौके पर समर्थन नहीं देती, जबकि खास सवालों पर आंदोलनों में इनका समर्थन करती है।

जनता जिस प्रकार का बदलाव चाहती है, वह समता और बंधुत्व के मूल्यों पर आधारित विचार-धारा के द्वारा ही संभव है। मौजूदा पार्टियाँ, विशेषतः वामपंथी

पार्टियाँ भी नारे के रूप में इन मूल्यों की हिमायत करती हैं। परंतु उनकी जड़ें अपेक्षाकृत समृद्ध हिस्सों में हैं, अतः इन नारों का वास्तविक महत्त्व लुप्त हो गया है। समता की आकांक्षा उन हिस्सों को, जो सचमुच पददलित हैं, छूने से रह जाती है। उनकी समस्याओं की बाबत केवल विकास के अस्पष्ट वादे किए जाते हैं, जो दूरस्थ भविष्य में पूरे होंगे।

इसकी विचारधारात्मक अभिव्यक्ति केंद्रीय आयोजन के दर्शन में होती है, जिसके साथ आधुनिकीकरण का आग्रह जुड़ा होता। इस दर्शन के अनुसार उत्पादन की शक्तियों का आधुनिकीकरण और विस्तार ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात है। वितरण की व्यवस्था किंचित् बेहतर बना दी जाए, या हो सके तो स्वामित्व की पूँजीवादी व्यवस्था को समाप्त कर दिया जाए, तो उत्पादन की यह आधुनिकीकृत व्यवस्था जनता के जीवन में स्वतः सुधार ला देगी। इस प्रस्ताव से कुछ सार्थक सवाल उठते हैं, जिन पर शायद ही विचार किया जाता है। उदाहरण के लिए, यह नहीं बताया जाता है कि हमारे कमजोर औद्योगिक आधार के मद्देजनर इस औद्योगीकरण में कितना समय लगेगा। यदि हमें अद्यतन टेक्नोलाजी अपनानी है, तब हमारी विशाल जनशक्ति का, जो बेरोजगार है और तेजी से बढ़ रही है, क्या हश्र होगा? विकास की इस पद्धति के तहत आमदनी के पुनर्वितरण का लाभ उच्च प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में बहाल मुट्ठीभर मजदूरों तक ही पहुँच सकता है। उस स्थिति में दरिद्रतम हिस्सों—गंदी बस्तियों में रहनेवाले, खेत मजदूर, सीमांत किसान, विपन्न जनजातियाँ, बेरोजगार, हरिजन आदि—का क्या होगा? उच्च प्रौद्योगिकीवाले उद्योग इस बात के लिए कुख्यात हैं कि वे बहुत कम रोजगार प्रदान करते हैं। चूंकि इनकी उत्पादकता बहुत अधिक है, इनमें काम पा जानेवाले अपेक्षया समृद्ध बन जाते हैं। परंतु इससे केवल उसी संकीर्ण या संकीर्ण बनते जा रहे हिस्से के लिए अधिक धन पैदा होता है, जिसकी चर्चा पहले की गई।

स्पष्ट है कि आबादी के बहिष्कृत हिस्सों को विकास एवं आयोजन के एक भिन्न पैटर्न को लेकर काम करना होगा। इसकी प्राथमिकता होगी कल्याण के दायरे का विस्तार करना ताकि अंतिम व्यक्ति को भी समेट लिया जा सके। इस विचारधारा का ठीक-ठीक स्वरूप विकास के क्रम में ही स्पष्ट होगा। परंतु इतना निश्चित है कि समाज के वंचित हिस्से एक नयी विचारधारा के अंतर्गत ही अपनी समस्याओं का हल पा सकते हैं और इस क्रम में हमारे समाज में गतिशीलता भी ला सकते हैं। इसकी जो दिशा होगी, उसके कुछ बिंदुओं को अंकित किया जा सकता है।

इस विचारधारा को स्थानीय योजनाओं पर बल देना होगा, जो यथासंभव स्थानीय संसाधनों तथा स्थानीय जनशक्ति से पूरी की जाएँगी। उदाहरण के लिए, आज की केंद्रित योजनाओं को छोड़ देना होगा, जो मुनाफा कमानेवाले निर्वैयक्तिक बड़े उद्यमों के लिए जनजातियों या ग्रामीण जनता के पर्यावरण को नष्ट कर देती हैं। उनका स्थान स्थानीय पहल पर तैयार की गई योजनाएँ ग्रहण करेंगी जो विज्ञान के नवीनतम

ज्ञान को स्थानीय तौर पर उपलब्ध सामग्रियों पर आधारित परंपरागत तरीकों के साथ संयुक्त करेंगी ताकि सामाजिक जीवन का ऐसा रूप उभर सके जो न तो मानव समाज को और न मानव एवं प्रकृति के सामंजस्य को नष्ट करेंगी। आज नयी दिल्ली के दूरस्थ कार्यालयों में या राज्यों की राजधानियों में तैयार की गयी योजनाएँ मुनाफा कमानेवाले फर्म के हित की दृष्टि से अनुप्राणित होती हैं और उन संकटों के लिए जवाबदेह हैं जो इमारती लकड़ी तथा कागज उद्योग को बढ़ाने के लिए वनों का विनाश, पर्यावरण पर पड़नेवाले दूरगामी प्रभाव का आकलन किए बिना मानवीय बस्तियों समेत विशाल भूखंडों का जलप्लावन और विशाल जलाशयों का निर्माण, विकिरण या प्रदूषण से उत्पन्न स्वास्थ्य पर जोखिम से बेखबर रहकर नाभिकीय शक्ति-प्रतिष्ठानों या घातक रसायनों को पैदा करनेवाले या उनका इस्तेमाल करनेवाले संयंत्रों का स्थापन—ये सब केवल मानव के स्वास्थ्य एवं जीवन को ही नहीं, बल्कि धरती की जीवन-संपोषिणी क्षमता को भी नष्ट कर रहे हैं। वनों का नाश वनवासी जनता के जीवनयापन की व्यवस्था को नष्ट करता है तथा साथ ही बाढ़ का और उर्वर भूमि के क्षरण का कारण बनता है। बड़े संयंत्रों से स्थानीय लोगों को जहरीला धुआँ मिलता है; जबकि नौकरियाँ, खासकर बड़ी नौकरियाँ तथा मुनाफा बाहरी लोगों को प्राप्त होता है। अक्सर ऐसा होता है कि नये बसे औद्योगिक शहरी क्षेत्र में इसके लाभान्वित होनेवालों के लिए महँगी जीवन पद्धति बन जाती है और स्थानीय लोग, जो पहले गरीब होने के बावजूद स्वाभिमानी थे, सापेक्ष रूप से वंचित हो जाने की भावना के कारण एकाएक दयनीय बन जाते हैं। बराबर आबादी के निचले स्तर के लोगों को ही इस प्रकार की योजना का घाटा उठाना पड़ता है, जबकि ऊँचे वर्ग के लोग इसका लाभ उठाते हैं।

यह अचरज की बात नहीं है कि इस विकास को आधुनिकता एवं प्रगति के रूप में देखा जाता है। जहाँ तक गरीबों का सवाल है, उनके लिए इसका अर्थ है विस्थापन एवं दुर्दशा। जहाँ उन्हें इन उद्योगों में रोजगार भी मिल जाता है, उन्हें इसकी कीमत चुकानी पड़ती है। इस शहरी परिवेश में उनका पहले का सामुदायिक जीवन नष्ट हो जाता है।

पश्चिम के ढर्रे के औद्योगीकरण का जो आकर्षण था, वह उन देशों में भी अब फीका पड़ता जा रहा है। तीसरी दुनिया के लिए तो वह अनर्थकारी सिद्ध हो ही रहा है। शोषित जनता का जो संगठन बनेगा, उसे भोगवाद के धन-अर्जन की लिप्सा पर आधारित वर्तमान श्रेणीभेद की संरचना एवं विकास के स्थान पर विकास की नयी दृष्टि विकसित करनी होगी। वैसा ही अर्थतंत्र, जो विकास की अपनी योजना में असमानताओं को दृढ़तापूर्वक दूर रखता है, इन लोगों के कल्याण के लिए उपयुक्त बन सकता है।

आंतरिक औपनिवेशिक व्यवस्था से पीड़ित लोगों के लिए यह जरूरी होगा कि

अपनी नयी विचारधारा को लेकर वे एक नयी पार्टी के अंदर नये संयुक्त मोर्चे का निर्माण करें। इस नये संयुक्त मोर्चे के साझीदार कौन-कौन होंगे? इस प्रश्न के उत्तर में स्पष्ट तौर पर जनता के वे हिस्से आते हैं जो आज आंतरिक औपनिवेशिक व्यवस्था से पीड़ित हैं अर्थात् वे लोग जो पिछड़े क्षेत्रों के हैं और जिनकी प्राकृतिक संपदा का शोषण चंद औद्योगिक घरानों को या सार्वजनिक क्षेत्र के केंद्रीय अधिकारीतंत्रों को लाभ पहुँचाने के लिए किया जा रहा है। यह मोर्चा आबादी के बहुसंख्यकों को लेकर बनेगा। इसमें पिछड़े क्षेत्रों के सभी लोग शामिल होंगे, केवल मुट्ठीभर उन लोगों को छोड़कर, जो स्थानीय धन के निकास में एजेंट का काम करते हैं और व्यवस्था के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में लाभ-भोगी हैं। पूँजीवादी किसानों को छोड़कर जो व्यक्तिगत लाभ के लिए ग्रामीण जीवन के परंपरागत ढाँचे को नष्ट करने के यंत्र हैं, इस मोर्चे में संपूर्ण कृषक या ग्रामीण जनता का समावेश हो सकता है। परंतु संगठन का सर्वाधिक भरोसेमंद आधार इन दोनों श्रेणियों के बीच के दरिद्रतम लोग ही हो सकते हैं : जनजातियों के गरीब लोग, भूमिहीन मजदूर, खदानों और बागानों के मजदूर, विभिन्न कोटि के कारीगर, गंदी बस्तियों में रहनेवाले तथा शहरों के अनियमित एवं अल्प आय पानेवाले औद्योगिक मजदूर जो वस्तुतः गाँवों के निरुपाय कर दिए गए लोगों के ही विस्तार और उनके वंशज हैं; संक्षेप में ऐसी श्रेणियाँ जिन्हें असमानता से कोई लाभ मिलनेवाला नहीं है। बल्कि ये ही वे लोग हैं जो पिछले दशकों के योजनाबद्ध विकास से और हमारे देश द्वारा की गई महान प्रगति के दंभपूर्ण दाँवों से अछूते रहे हैं।

इन श्रेणियों के कुछ लोगों ने अपने संगठन बनाए हैं। कर्नाटक के रैयत संघ ने 1984 के आम चुनाव में अपने कुछ जन-उम्मीदवारों को खड़ा भी किया था, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। उत्तर बंग तपशीली जाति ओ आदिवासी संगठन ने यद्यपि किसी चुनाव में अपना उम्मीदवार खड़ा नहीं किया है पर इसे व्यापक एवं मजबूत जनाधार प्रात है। 1983 के अंत और 1984 के प्रारंभ के महीनों में अपनी शिकायतों को मुखरित करने के इरादे से गिरफ्तारी देने के लिए 35,000 स्वयंसेवक भेज सकने में संगठन सक्षम हुआ। उत्तर बंग का संगठन यह महसूस करता है कि मौजूदा पार्टियाँ निरर्थक हो गई हैं। और भी कई दलित एवं जनजातीय संगठन हैं जो अपने अधिकारों के लिए तथा विभिन्न प्रकार के अत्याचारों के विरुद्ध लड़ाइयाँ लड़ते रहे हैं। मौजूदा राजनीतिक दलों के प्रति जैसे-जैसे असंतोष बढ़ेगा तथा यह एहसास उभरेगा कि एक नयी विचारधारा के तहत बनी हुई उनकी अपनी पार्टी ही उन्हें स्थानीय लाभ दिला सकती है वे आगे के दिनों में एक साथ जुटने की जरूरत समझ सकते हैं।

घटना-क्रम के इस प्रकार के विकास का दुहरा लाभ होगा। एक तो यह देश के वंचित हिस्सों के हाथ में उनकी शिकायतों को दूर करने का एक मजबूत अस्त्र

प्रदान करेगा और दूसरे जनता के बड़े हिस्से को लोकतांत्रिक व्यवस्था से जिससे वे अब तक अपने को बेगाना महसूस करते रहे हैं, जोड़ने का काम करेगा। स्वतंत्र शक्ति के रूप में उनका प्रवेश हमारी निश्चल राजनीतिक व्यवस्था में, जो अतीत में प्रधानमंत्री पद के उत्तराधिकार जैसे सवालों के दलदल में फँसी थी, एक नये किस्म की गतिशीलता पैदा करेगी। और कुछ न भी हो, इस प्रकार के दल की मौजूदगी से कम से कम इतना होगा कि दूसरे दल उपेक्षित हिस्सों की जरूरतों पर ध्यान देने को बाध्य होंगे।

अभी राजनीतिक दलों को एक-दूसरे से भिन्न बतानेवाले नामों के जो बिल्ले हैं, वे मुख्यतः कृत्रिम हैं। अक्सर उनके बीच के अंतर जाति या संमुदाय के जनाधार के अंतर पर। संयुक्त मोर्चे की राजनीति के संदर्भ में विभिन्न दलों की विचारधारात्मक स्थितियों में सफाई आएगी। खास नीतियों पर निर्णय लेने का सवाल उठने पर वामपंथी, दक्षिणपंथी, मध्यमपंथी जैसे बिल्लों को निश्चित प्राप्त होगी। जिस प्रकार के संयुक्त मोर्चे की चर्चा हमने की है वह यदि पार्टी का रूप ग्रहण करता है तो यह वामपंथी पार्टियों के बाएँ बाजू पर स्थित होगी। समय आने पर यह अन्य वामपंथी तत्त्वों को साथ लेकर बने बृहत्तर संयुक्त मोर्चे का हिस्सा बन सकती है, ताकि अपने बुनियादी लक्ष्य को पूरा करने का काम कर सके।

वस्तुतः वंचितों और उपेक्षितों को ही आगे बढ़कर आगामी शताब्दी पर अपना दावा ठोंकना चाहिए। यह शोषणमूलक व्यवस्था, जिसकी साख चुक गई है, के प्रबंधकों ने अतीत पर कब्जा कर रखा था। अब उन्हें उस तरह भविष्य को हथियाने से रोकना होगा। पद-दलितों को कुछ खोना नहीं है, वे ही आज के सत्तासीनों के वास्तविक विरोधी हैं और उन्हें अपनी वाजिब जगह लेने के लिए आगे बढ़ना होगा। जो शताब्दियों से कष्ट भोगते रहे हैं, उनमें नये संगठन बनाने का धीरज हो सकता है, ताकि उनके वंशजों को विरासत के रूप में एक बेहतर दुनिया हासिल हो सके। युगों-युगों की विपदा ने उन्हें धैर्य तथा सहनशीलता की शिक्षा दी है, जिससे उन्हें अपने नये प्रयास में सहायता मिलेगी।

विरोध पक्ष की तथाकथित राष्ट्रीय पार्टियों का ह्रास हुआ है और उनकी जगह द्रमुक और अन्नाद्रमुक जैसी क्षेत्रीय पार्टियों ने ले ली है। इससे ये पार्टियाँ उन तथाकथित राष्ट्रीय पार्टियों के समकक्ष आ सकती हैं, क्योंकि इन राष्ट्रीय पार्टियों को भी हिंदी क्षेत्र में आधारित होने के कारण ही राष्ट्रींय कहा जाता रहा है। इससे अन्य उभरती पार्टियों को भी औचित्य प्राप्त हो सकता है। अब तक इस प्रकार की पार्टियों को कभी भी मुख्यधारा का अंग नहीं माना जाता रहा है।

क्षेत्रीय पार्टियों के अभ्युदय का केंद्र-राज्य संबंधों पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। काल-क्रम में सत्ता के विकेंद्रीकरण के लिए प्रभावकारी दबाव पड़ेगा। विकेंद्रीकरण हुए बिना आंतरिक औपनिवेशिक व्यवस्था के पीड़ित लोग बड़े शहरी औद्योगिक और

व्यापारिक हितों के फंदे से कदापि मुक्त नहीं हो सकेंगे। जिस प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका के बहुराष्ट्रीय निगमों को समुद्र पार के उनके क्रियाकलापों में संयुक्त राज्य अमेरिका की सेनाओं और सी. आई. ए. का समर्थन एवं संरक्षण प्राप्त होता है, उसी तरह भारत के इन शहरी औद्योगिक एवं व्यापारिक हितों को अब केंद्रीय सरकार का समर्थन-संरक्षण प्राप्त होता है। पददलितों के इस नये गठजोड़ को सत्ता के अपेक्षया अधिक विकेंद्रीकरण के लिए इन क्षेत्रीय पार्टियों के साथ एकता बनानी होगी। अभी जो क्षेत्रीय दल अस्तित्व में हैं और जो आनेवाले हैं, वे इनके सहज मित्र होंगे। ये क्षेत्रीय दल जनता से किए गए अपने सीमित वायदों को भी तब तक पूरा नहीं कर सकेंगे, जब तक अपने क्षेत्र के संसाधनों पर उन्हें अपेक्षाकृत अधिक नियंत्रण प्राप्त नहीं हो जाता। अतः उन्हें इसके लिए करने को बाध्य होना पड़ेगा और इसके लिए उन्हें सबके समर्थन की जरूरत होगी। ये घटनाक्रम भारतीय राजनीति में एक सर्वथा नयी स्थिति और नया अवसर पैदा करने जा रहे हैं। इस अर्थ में हम सचमुच एक नये युग में प्रवेश करने जा रहे हैं।

सामाजिक बदलाव में दलितों की भूमिका

दलित नेतृत्व का सवाल इस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में उठाया जा रहा है कि किसी विभाजित समाज में जहाँ लोग वर्ग, जाति, मूल, भाषा आदि में किन्हीं आधार पर विभाजित हैं वहाँ कोई भी उन्नयन का कार्यक्रम, चाहे वह शिक्षा प्रसार का हो चाहे राजनीतिक और आर्थिक अधिकारों का, सभी समूहों को एक ही साथ समान रूप से लाभान्वित या प्रभावित नहीं करता। इसमें जो सबसे आगे बढ़ा हुआ समाज होता है वही अगुआ बन सामने आता है और शुरू में सबसे अधिक लाभान्वित भी होता है। प्रजातांत्रिक क्रांति की अगुआई यूरोप में उस समय के बुर्जुआ कहे जानेवाले मध्यम वर्ग ने की, जो बाद में पूँजीपति वर्ग के रूप में विकसित हुआ। कार्ल मार्क्स के सामने इतिहास की प्रक्रिया की यही जटिलता रही होगी जिस कारण उसने एक सरलीकृत स्थिति की कल्पना की, जहाँ मुट्ठी भर पूँजीपतियों को छोड़ बाकी सारे-के-सारे लोग सर्वस्वहीन सर्वहारा बन जाते हैं और उनका उद्धार सारे संसार का उद्धार बन जाता है। हकीकत ने वह काल्पनिक रूप कभी धारण नहीं किया और पूँजीपति वर्ग के विरुद्ध वैसी भेदभावहीन सार्विक निर्धनता की स्थिति समाज में नहीं बन पाई जिसमें सर्वहारा ही अकेले बचे हों। समाज अनेक तरह के आंतरिक विभाजनों से ग्रस्त रहा। यह भी एक कारण था कि कार्ल मार्क्स के अनुयायियों ने जब अपनी कल्पना के अनुरूप नया समाज गढ़ने की कोशिश की तो वे ऐसे अंतर्विरोधों से घिर गए कि उन्हें मिटाने के लिए घोर अधिनायकवादी नीतियों को अपनाना पड़ा और विनायक की मूर्ति गढ़ते-गढ़ते हो गई गोबर गणेश की निर्मिति।

पूँजीपति और मजदूर को छोड़ समाज में जो दूसरे अनेक विभाजन थे उन्हें नष्ट करने का स्टीम रौलर मार्क्स की कल्पना में पूँजीपति वर्ग ही था। 'कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो' में मार्क्स ने अत्यंत प्रशंसा-भाव से पूँजीपतियों की इस क्रांतिकारी भूमिका की चर्चा की थी। लेकिन जिस प्रक्रिया को मार्क्स ने अपनी कल्पना में सार्विक मान लिया था वह दूसरे देशों और महादेशों में तो दूर, स्वयं यूरोप में भी कभी संपूर्णतः कारगर नहीं हुई। यूरोप में सिर्फ मूल, धर्म और राष्ट्रीयताओं के विभाजन और वफादारियाँ ही कायम नहीं रहीं बल्कि आर्थिक क्षेत्र में भी पूँजीपतियों और 'सर्वहारा'

के बीच में अनेक मध्यवर्ती समूह उभरते गए और यूरोप के भी अधिकांश हिस्सों में छोटे किसान अपनी छोटी जोतों पर अलग-अलग खेती करते रहे। इससे समाजवादी आंदोलन पर यूरोप में जो प्रभाव पड़ा उसकी चर्चा हम यहाँ नहीं करेंगे। यहाँ हम भारत के संदर्भ में इस तरह के सामाजिक विभाजनों की जटिलताओं से राष्ट्रीय आजादी एवं लोकतंत्र और फिर समाजवादी आंदोलन के सामने क्या समस्याएँ आईं और उनसे जूझने में विविध समूहों की भूमिका क्या रही है या हो सकती है, इसी की पड़ताल करेंगे।

भारत में अंग्रेजी शासन कायम होने के बाद यहाँ के लोगों के सामने सबसे बड़ी समस्या राष्ट्रीय आजादी की थी। लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में राष्ट्रीय आजादी का अर्थ वही नहीं हो सकता था जो 1857 में था। 1857 का आंदोलन अंग्रेजों को हटा कर प्रतीक रूप में मुगल शासन को दिल्ली में बहाल करना था। इसमें विद्रोही सिपाहियों के अलावा देशी राजा-महाराजाओं की खास भूमिका थी। लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी का अंत होते-होते दुनिया में वैचारिक स्तर पर समता एवं लोकतंत्र की अभिलाषा जग गई थी और पश्चिमी दुनिया के साथ संपर्क ने भारत में भी उस अभिलाषा को बल देने में खास भूमिका निभाई थी। इससे अंग्रेजी शासन से मुक्ति के आंदोलन के समानांतर भारत के पारंपरिक शोषण और उत्पीड़न से मुक्त होने की आकांक्षा भी मुखर होने लगी। भारत का सबसे महत्त्वपूर्ण सामाजिक विभाजन और अनेक तरह के शोषण का स्रोत यहाँ की वर्ण व्यवस्था थी जिसके तहत हजारों जातियाँ वर्गीकृत थीं। लोगों की सामाजिक स्थिति जन्म से निर्धारित होती थी, हालाँकि निर्गुण सिद्धांत में वर्ण को कर्म आधारित माना जाता था। इसमें सबसे दयनीय स्थिति अंत्यज या अछूत मानी जानेवाली जातियों की थी। अतीत में अनेक बार यत्र-तत्र शक्ति संपन्न होने पर शूद्र एवं बहिष्कृत जातियाँ अपने को ऊपरी वर्णों में शामिल करती रही हैं लेकिन गैर-बराबरी की जो व्यवस्था कायम थी, पूर्ववत जारी रही—यानी कुछ समूह ऊपरी वर्णों में शामिल हो गए, पर वर्ण-व्यवस्था ऊँच-नीच के भेद के साथ कायम रही। चौदहवीं शताब्दी से भक्ति आंदोलन ने वर्ण एवं जाति-व्यवस्था के वैचारिक आधार और मान्यताओं को गहरी चोट पहुँचाई। इस काल के ज्यादातर भक्त कवि अद्विज जातियों के थे और कुछ तो अंत्यज थे, जैसे महाराष्ट्र में चोखामेला (महार)। ऐसे ही रैदास चमार, कबीर जुलाहा, और नामदेव दरजी थे। इन्होंने सिद्धांत रूप में यह बात सबों से मनवा ली कि ईश्वर के सामने सब बराबर हैं और यह भी कि ईश्वर संस्कृत के अलावा दूसरी भाषाएँ भी जानता है। इन कवियों ने कई क्षेत्रीय भाषाओं को समृद्ध साहित्य का माध्यम बनाया। लेकिन काम का बँटवारा और सामाजिक ढाँचे का लौह आवरण इतना जड़ और मजबूत था कि इस संसार में शूद्रों और अंत्यजों की स्थिति में कोई फर्क नहीं हुआ। वे भगवान के दरबार में तो प्रवेश पा सकते थे लेकिन द्विजों की देहरी से दूर ही रखे जाते थे। ये अब भी

पूर्ववत समाज के सबसे तिरस्कृत और दूषित माने जानेवाले कामों को करने के लिए बाध्य थे।

लोकतंत्र की हवा ने इनमें भी समान मनुष्य की हैसियत से अपना अधिकार ढूँढ़ने की प्रेरणा जगाई। इनके लिए आजादी का अर्थ अंग्रेजों से आजादी नहीं था बल्कि द्विज जातियों द्वारा आरोपित विषमता और शोषण से मुक्ति था। नये उद्योग धंधों और फौज में भरती का अवसर देकर अंग्रेजों ने कुछ क्षेत्रों में बराबरी का स्तर हासिल करने का मौका दिया था। स्वयं डॉ. आंबेडकर के पिता और पितामह दोनों ही अंग्रेजी फौज में रह चुके थे। इस स्थिति और गायकवाड़ के स्कॉलरशिप से अमरीका की शिक्षा ने आंबेडकर को यह मौका दिया था कि वे हिंदुओं की पारंपरिक सोच-प्रक्रिया से बाहर जा कर 'अछूत' मानी जानेवाली जातियों की स्थिति पर विचार कर सकें। पूरे परिप्रेक्ष्य में उन्हें हिंदुओं के वर्चस्व के आजाद भारत से अंग्रेजी हुकूमत बेहतर लगती थी। इसीलिए डॉ. आंबेडकर ने राष्ट्रीय आजादी की किसी पहल में दलितों के अधिकारों की गारंटी को पूर्व-शर्त के रूप में पेश करने की कोशिश की। और जाहिर है, तत्कालीन स्थिति में ऐसा सिर्फ अंग्रेज ही सुनिश्चित कर सकते थे। इस तरह एक स्थिति बनी जिसमें डॉ. आंबेडकर अंग्रेजों के सहयोगी की भूमिका में दिखाई पड़े। अंग्रेजों ने इस स्थिति का यथासंभव फायदा उठाया। बुनियादी बात यह थी कि वे अतीत में द्विजों द्वारा किए गए अत्याचारों से इतना आहत थे कि हिंदू समाज से कोई संबंध रखना नहीं चाहते थे और अंततः अपने अनुयायियों के साथ उन्होंने हिंदू धर्म का परित्याग कर बौद्ध धर्म कबूल किया। हिंदुओं के प्रति इसी नफरत का नतीजा था कि 1932 में जब गाँधीजी ने अछूतों के लिए अलग मतदान की व्यवस्था के खिलाफ आमरण अनशन किया तो आंबेडकर ने इसे नाटक (स्टंट) कहा और उनकी मृत्यु की संभावना से बिलकुल निरपेक्ष रहे। अपनी ही शर्त पर उन्होंने पूना समझौते पर हस्ताक्षर किया, जिससे महात्मा गाँधी का अनशन टूटा। महात्मा गाँधी 'अछूतों' पर होनेवाले अत्याचारों के शुरू से ही घोर विरोधी थे और बाद में अछूतों को 'हरिजन', ईश्वर का प्रिय कहते थे। इनके लिए अलग मतदान की व्यवस्था के उनके विरोध एक कारण यह भी था कि अलग मतदान की व्यवस्था से वे सदा एक बहिष्कृत की श्रेणी में डाल दिए जाते, जो गाँधीजी के समग्र भारत को एक परिवार के रूप में देखने के सपने से बिलकुल विपरीत था। इन बातों का जिक्र करना इसलिए जरूरी लगा कि देश की कोई नीति बनाते समय इस भावनात्मक दरार की समझ हमें होनी चाहिए।

महात्मा गाँधी के सुझाव पर ही डॉ. आंबेडकर जवाहरलाल नेहरू की अंतरिम सरकार में मंत्री बनाए गए और बाद में उन्होंने देश का संविधान बनाने में अत्यंत महत्त्वपूर्ण

भूमिका निभाई। आजाद भारत में संविधान और कानून के प्रावधानों ने कानूनी दृष्टि से हरिजनों को बराबरी का दरजा दे दिया है और उन्हें अनेक तरह के अपमानजनक व्यवहारों से भी मुक्त किया है। लेकिन भावनात्मक स्तर पर हरिजनों का दूसरे लोगों से अलगाव कायम रहा। बाद में वोट की राजनीति ने इस खाई को पाटने की बजाय और गहराया ही है। इसमें दलितों के इलीट (अभिजात) की भी अहम भूमिका रही है क्योंकि इस भावनात्मक विभाजन का फायदा लेकर, एक राजनीतिक आधार बनाकर वह अपनी शक्ति और सुविधाओं में इजाफा कर सकता है और अगड़ी जातियों के सुविधा-संपन्न लोगों की बराबरी कर सकता है। जैसे, दूसरे युद्धों के मुनाफाखोर (वार प्रोफिटियर्स) होते हैं वैसे जाति-युद्धों के भी; और राजनीति में ये मुनाफाखोर विभाजन रेखा के दोनों ओर होते हैं--दलितों और शूद्रों में भी, और द्विजों में भी। दोनों ही ओर जाति की भावनात्मक अपील से अपनी राजनीतिक स्थिति मजबूत की जाती है : लगभग सदा समाज के हितों की बलि देकर।

ऊपर की बातों को पृष्ठभूमि में रखने से हमें समतामूलक समाज के निर्माण की रणनीति का निर्धारण करने में सुविधा होगी। पश्चिमी देशों में समाज का विभाजन अपेक्षाकृत सरल था। यह मूलतः आर्थिक था; हालाँकि मार्क्स की मान्यता के विपरीत विभाजन मजदूर और पूँजीपतियों के बीच दो ध्रुवीय नहीं था और बीच में अनेक मध्यमवर्गीय समाज जुड़ गए थे, जिनमें कुछ परंपरा से आए थे और कुछ नयी व्यवस्था में पैदा हुए थे। भारत में नव विकसित पूँजीपति वर्ग और अंग्रेजों द्वारा पैदा किए गए जमींदार और सामंतों के अलावा पारंपरिक व्यवस्था से पैदा हजारों जातियाँ थीं जिन्हें चार वर्णों और पाँचवाँ अंत्यज में रखा गया था। ये जातियाँ पेशे तथा आर्थिक स्थितियों में भी एक-दूसरे से भिन्न थीं। समाजवाद का अर्थ इनके लिए सिर्फ़ आर्थिक रूप से समान दरजा हासिल करना नहीं था। इन्हें पारंपरिक वर्जनाओं और भेदभाव से भी मुक्ति की कामना थी। आर्थिक मोर्चे पर समता के संघर्ष के लिए जातीय आधार पर विभाजित व आर्थिक दृष्टि से विपन्न लोगों को एकजुट करने की समस्या सामने आई जिसका समाधान तब तक संभव नहीं था जब तक समता के संघर्ष को जातीय भेदभाव मिटाने के संघर्ष के साथ नहीं जोड़ा जाता। जिस तरह महात्मा गाँधी को राष्ट्रीय एकता के लिए समाज को जातीय भेदभाव से मुक्त रखना अपरिहार्य लगता था वैसे ही समाजवादियों के लिए शोषण-मुक्त समाज के लिए आर्थिक के साथ-साथ सामाजिक स्तर पर भी सभी तरह के भेदभाव को मिटाना एक अपरिहार्य आवश्यकता लगती थी। बिहार में जहाँ समाजवादियों का संगठन काफी फैला था, शुरू से ही शूद्र और दलित जातियों में आधार था और हमारे यहाँ सोशलिस्ट पार्टी को प्रायः 'सोलकनवां पार्टी' कहा जाता था। 'सोलकन' शब्द बिहार में आम तौर से मिलेजुले रूप में शूद्रों और हरिजनों के लिए प्रयोग में आता था। अतः जाति व्यवस्था खतम करने की दिशा में दलित संगठनों से तालमेल के भी प्रयास हुए।

इस दिशा में एक महत्त्वपूर्ण पहल 1952 के आम चुनाव के समय सोशलिस्ट पार्टी का डॉ. आंबेडकर के शेड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन के साथ चुनावी समझौता था जिसमें दोनों पार्टियाँ एक-दूसरे के प्रत्याशियों को सहायता देने पर राजी हो गईं। इसी नीति के तहत मुंबई में नायगांव-वर्ली क्षेत्र से अशोक मेहता और डॉ. आंबेडकर सम्मिलित रूप से चुनाव मैदान में आए। यह ज्ञातव्य है कि 1952 के आम चुनाव में कुछ द्वि-सदस्यीय चुनाव क्षेत्र होते थे जिसमें एक स्थान आम प्रत्याशी के लिए होता था और दूसरा आरक्षित स्थान के प्रत्याशी के लिए, और मतदाता दो मत दिया करते थे। हालाँकि डॉ. आंबेडकर और अशोक मेहता दोनों ही लोकसभा की सीट थोड़े मतों से हार गए, आपसी सहयोग के कारण कुछ विधानसभा सीटों पर सफलता मिली। इससे भी बढ़कर निचले स्तरों पर सोशलिस्ट और आंबेडकरवादी दलित कार्यकर्ताओं को एक दूसरे के करीब आने का मौका मिला। लेकिन यह प्रयोग ज्यादा दिन चल नहीं पाया। इस चुनाव के सालभर के बाद स्वयं सोशलिस्ट पार्टी का विलय किसान मजदूर प्रजा पार्टी से हुआ जिससे प्रजा सोशलिस्ट पार्टी अस्तित्व में आई। अंतर्विरोधों के कारण इस पार्टी में भी विभाजन हुआ और 1956 से डॉ. राममनोहर लोहिया के नेतृत्व में अलग सोशलिस्ट पार्टी अस्तित्व में आई।

इस बीच ब्राह्मणवाद के विरोध में दक्षिण में द्रविड़ आंदोलन का उभार हो रहा था और इससे प्राप्त ऊर्जा से गैर-द्विज जातियाँ राजनीति के शिखर पर आ रही थीं। कुछ पुराने अनुभवों और कुछ दक्षिण के अनुभव से डॉ. लोहिया पिछड़ी जातियों की शक्ति को समाजवादी आंदोलन को ऊर्जा देने की दृष्टि से अपनी राजनीति से जोड़ना चाहते थे। इसी का परिणाम सोशलिस्ट पार्टी की जाति नीति थी। डॉ. लोहिया का कहना था कि सदियों से राजनीति, शिक्षा आदि के क्षेत्रों में शीर्ष स्थानों से बहिष्कृत होने से 'पिछड़ी जातियों' (इसमें वे शूद्र, अंत्यज एवं महिला सभी को शामिल करते थे) में ऊँचे स्थानों पर पहुँचने की आकांक्षा और योग्यता दोनों का क्षय हो गया है। इससे वे बराबर की स्पर्धा में ब्राह्मण, बनिया या राजपूतों का मुकाबला नहीं कर सकते। इसलिए उनकी आकांक्षा को जगाने के लिए उन्हें अफसरी और नेतागिरी के ऊँचे स्थानों पर 60 प्रतिशत आरक्षण देना जरूरी है। पिछड़ों की श्रेणी में वे औरतों को भी रखते थे, क्योंकि उनकी दृष्टि में औरतें, चाहे वे किसी भी वर्ग या जाति से आती हों, पारंपरिक रूप से दबाकर रखी जाती रही हैं।

चूँकि दलितों को आरक्षण का लाभ पहले से मिल रहा था, उनमें तो बहुत उत्साह नहीं जगा, लेकिन मध्य जातियों में, जिन्हें शूद्र माना जाता था, काफी उत्साह जगा। स्वयं सोशलिस्ट पार्टी के सभी स्तर की कार्यकारिणियों में साठ फीसदी आरक्षण का प्रावधान पार्टी विधान में किया गया। वैसे तो पहले भी सोशलिस्ट आंदोलन से दलित और शूद्र जातियों के ही लोग बड़ी संख्या में जुड़े थे क्योंकि गाँवों के गरीब, जिनके बीच सोशलिस्ट काम करते थे, मुख्य रूप से इन्हीं जातियों से आते थे। लेकिन

इस नयी नीति से शूद्र जातियों से बड़ी संख्या में नये लोग जुड़े, खासकर नेतृत्व में उनकी प्रधानता हो गई। यह जरूर हुआ कि ऐसे लोगों में काफी ऐसे लोग भी थे जिनकी दिलचस्पी समाजवाद में कम थी और इसमें वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षा हासिल करने का अवसर ही ज्यादा आकर्षक लगता था। बाद में इसके दुष्परिणाम भी सामने आए। लेकिन तत्काल एक बड़ी शक्ति समाजवादी पार्टी से जुड़ी। 1967 के आम चुनाव में गैर-कांग्रेसवाद की रणनीति के काल में संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी की कई राज्यों में सफलता के पीछे पिछड़ी जातियों की भावना के उभार का भी खास हाथ था। नौकरियों और नेतृत्व में आरक्षण के विचार के तेजी से फैलने और इसके समर्थन का अत्यंत ही उग्र रूप और कहीं-कहीं उतना ही तीव्र हिंसक विरोध, दोनों के पीछे मुख्य कारण यह था कि पिछड़ों और सवर्णों दोनों के अपेक्षाकृत संपन्न और मुखर तबके को इसमें सीधा लाभ या नुकसान दिखाई देता था। पिछड़ों के इस तबके के लोगों को आरक्षण से उन नौकरियों में प्रवेश का रास्ता सहज होता दिखाई देता था जिनमें खुली स्पर्धा में पहुँचना उन ऐतिहासिक कारणों से कठिन था जिनकी चर्चा पहले हो चुकी है। दूसरी ओर, द्विज जातियों के उस तबके को इसमें सीधा नुकसान दिखाई देता था जो अपनी संख्या के अनुपात में कहीं अधिक स्थानों पर काबिज थे। लेकिन दोनों की उत्तेजना के पीछे था घोर असुरक्षा का भाव, जो आजादी के बाद से चलाई जा रही अर्थनीति का परिणाम था जिससे चारों ओर बेरोजगारी बढ़ रही थी। चूंकि पिछड़ों और अगड़ों, दोनों में नौकरी के लिए बेहाल पढ़ा-लिखा तबका ही मुखर था और राजनीति को प्रभावित करता था, इस सवाल पर त्वरित रूप से राजनीतिक गोलबंदी शुरू हुई। इंदिरा गाँधी ने इसकी चुनावी संभावनाओं को देखते हुए कर्नाटक में देवराज अर्स के मुख्यमंत्रित्व में सबसे अधिक आरक्षण का प्रावधान कराया। बिहार में कर्पूरी ठाकुर ने अपनी ही पार्टी के भीतरी विरोध को झेलते हुए 1978 में पिछड़ों के लिए आरक्षण का प्रावधान किया। इससे वे एक लोकप्रिय नेता के रूप में उभरकर सामने आए। इसके बाद से बिहार के सभी पिछड़े नेता सामाजिक न्याय के नाम पर इसे एक या दूसरे रूप में उछालते रहे हैं। लेकिन इस नीति के इर्दगिर्द सबसे तीव्र संघर्ष तब हुआ जब विश्वनाथ प्रताप सिंह ने देवीलाल को राजनीतिक शिकस्त देने की रणनीति के तहत इसे केंद्र में यकायक लागू कर दिया। चूंकि जाटों को इसके दायरे से बाहर रखा गया था—दिल्ली, हरियाणा आदि में इसके विरोध ने अत्यंत ही हिंसक रूप ग्रहण किया। दिल्ली में तो कई आत्मदाह तक की घटनाएँ अखबारी सुर्खियों में थीं।

लेकिन जैसी सामाजिक क्रांति की तस्वीर लोगों के सामने पेश की गई थी वैसी कुछ हुई नहीं। सबसे बड़ा कारण तो यह था कि दलितों को आरक्षण का लाभ पहले से ही मिल रहा था और जिन दूसरी जातियों को सबसे अधिक लाभ मिला वे यादव एवं कुर्मी जैसी जातियों के लोग थे जिनका अपनी संख्या के हिसाब से

नौकरियों में अनुपात जरूर काफी कम था, लेकिन वे बहिष्कृत कभी नहीं थे। परंतु यह सामाजिक न्याय कुछ ज्यादा ही कम साबित हुआ, क्योंकि पिछड़ों में जो सबसे अधिक पिछड़े थे यानी 'अति पिछड़ी जातियाँ', वे यादवों या कुर्मियों से उन्हीं कारणों से स्पर्धा में बराबरी नहीं कर सकती थीं जिन कारणों से यादव या कुर्मी ब्राह्मणों तथा बनियों से। ये लोग आरक्षण के लाभ से वंचित ही रहे। डॉ. लोहिया इस खतरे को देखते थे और उन्होंने बराबर चेताया था कि आरक्षण का फायदा 'अहीरों' और 'चमारों' को ही नहीं हथिया लेना चाहिए। लेकिन अपने से दबे-पिछड़े लोगों के लिए उदारता एक विरल चीज होती है, और इसलिए आरक्षण से लाभान्वित होनेवाले लोग प्रायः न सिर्फ पिछड़ों में अगड़े थे बल्कि इनमें भी वैसे परिवारों के थे जिन्हें शैक्षणिक या दूसरी सुविधाएँ उपलब्ध थीं और कुछ तो ऐसे थे जिन्हें बाद में 'क्रीमी लेयर' बतलाया गया। इस स्थिति से आरक्षण के भीतर आरक्षण की माँग अति पिछड़े समूहों द्वारा होने लगी। हाल में उत्तर प्रदेश में भाजपा ने इसे अपना चुनावी हथियार बनाने का प्रयास किया है। कर्पूरी ठाकुर ने ज्यादा तर्कसंगत ढंग से आरक्षण को तीन हिस्सों में बाँट दिया था। लेकिन जहाँ सैकड़ों जातियाँ सीमित नौकरियों के लिए अपना दावा पेश कर रही हों वहाँ लोगों को इस रास्ते संतुष्ट करना असंभव है। इससे राजनीति अधिक खंडित हुई है। प्रारंभ में आरक्षण के सवाल पर मुख्य विभाजन 'अगड़ों' और 'पिछड़ों' में था। अब जाति के आधार पर पिछड़े कई हिस्सों में बँट गए और प्रत्येक हिस्से का कोई नेता इन्हें आधार बनाकर वोट की राजनीति में अपने लिए स्थान बनाने में लगा हुआ है। आरक्षण में पहले छूट गई जाट जैसी जातियाँ फिर इसके दायरे में शामिल हो रही हैं। अब यह समाज के पिछड़े समूहों को आगे लाने की कम, और राजनीतिक सौदेबाजी की मुहिम ज्यादा दिखाई देती है। इससे उभरे नेता कबायली सरदारों जैसे लगते हैं। दुसाधों के नेता रामविलास पासवान, चमारों की नेता मायावती, यादवों के नेता बिहार में लालू प्रसाद यादव और उत्तर प्रदेश में मुलायम सिंह यादव, कुर्मियों के नेता नीतीश कुमार, लोधों के नेता कल्याण सिंह तथा जाटों के नेता अजीत सिंह, आदि। कबायली सरदारों की तरह मान्यता के लिए साजसज्जा और तामझाम जरूरी है। इसलिए ऐसे स्रोतों से पैसा पा कर जो प्रायः अज्ञात होते हैं, रहन-सहन, शादी-ब्याह आदि में इस तरह के नेता शहरी ठाठबाट का प्रदर्शन करते देखे जा सकते हैं। उत्तर भारत की राजनीति काफी हद तक इन सरदारों के तोड़-जोड़ पर आश्रित हो गई है। संपन्न वर्गों के लोग इनमें एक या दूसरे को धन मुहैया कराते हैं और इनसे राजनीतिक लाभ उठाते हैं। निजी उपलब्धियों के जश्न में ये जातीय नेता व्यापक सामाजिक न्याय के आदर्शों को पूरी तरह भुला चुके हैं। इससे राजनीति जड़ हो गई है।

जब भारत में सामाजिक न्याय की बात होती है तो इसके दो मुख्य पहलू होते हैं : एक सामाजिक सममिति का, और दूसरा आर्थिक समता का। समाजवाद

का संबंध, खासकर यूरोप में, दूसरी तरह की समता से ही था। भारत के सामाजिक विभाजन के परिप्रेक्ष्य में यह अपर्याप्त था। इसी से जाति व्यवस्था को नष्ट करने का लक्ष्य समाजवादी आंदोलन ने अपनाया। लेकिन आर्थिक समता तो मूल आधार है जिसके बिना सामाजिक समरसता स्थापित की ही नहीं जा सकती। एक ही जाति के किसी धनाढ्य व्यक्ति और उस पर आश्रित उसी की जाति के गरीब मजदूर के बीच एक जाति का होने के बावजूद रहन-सहन, मान-मर्यादा, निर्भरता, सामाजिक अधिकार इन सब में बहुत फर्क होता है। यह फर्क बिना आर्थिक गैर-बराबरी मिटाए खतम नहीं हो सकता।

भारतीय संदर्भ में समता और सममिति का फर्क समझना जरूरी है। व्यापक गरीबी और आर्थिक गैर-बराबरी के कारण गरीबी की मार सवर्ण, पिछड़े और दलित सभी समूहों के बहुसंख्य लोगों पर पड़ती है। यह जरूर है कि जहाँ दलितों में लगभग सभी संपत्तिहीन और गरीब हैं वहाँ शूद्र जातियों में एक हिस्सा अपेक्षाकृत खुशहाल और एक अत्यंत ही छोटा हिस्सा धनाढ्य भी है। अगड़ी जातियों में भी यही स्थिति है, हालाँकि खुशहाल और धनाढ्य लोगों की संख्या का अनुपात शूद्रों की अपेक्षा कुछ अधिक है। लेकिन नौकरियों के मामले में, खासकर ऊँची नौकरियों में, अगड़ी जातियाँ पूरी तरह छाई हुई हैं। दलितों को तो आरक्षण के कारण उनकी आबादी के अनुपात के लगभग बहाली की संभावना दिखाई देने लगी है। लेकिन पिछड़े इस मामले में संख्या के हिसाब से काफी पीछे हैं। यही असममिति (एसिमेट्री) की स्थिति है। सममिति की स्थिति वह होगी जिसमें सभी जातियों के लोगों को मोटामोटी अपनी आबादी के अनुपात में नौकरियों में स्थान मिलने लगे। आरक्षण के प्रावधानों का मूल उद्देश्य यह सममिति स्थापित करना ही था लेकिन आरक्षण के बावजूद अभी भी पहले से बहाल लोगों के कारण अगड़े और पिछड़ों के बीच संख्या के अनुपात में नौकरियों में स्थान नहीं दिलाया जा सका है। पर इससे भी जटिल समस्या विभिन्न पिछड़ी जातियों के बीच नौकरियों का संतुलन स्थापित करना है क्योंकि इन जातियों की स्थितियों में काफी फर्क है, जिससे, जैसा पहले बतलाया गया है, आरक्षित स्थानों में कुछ खास पिछड़ी जाति के लोगों का ही वर्चस्व हो जाता है। इससे कुछ लोग यह माँग करने लगे हैं कि सभी जातियों के लोगों को उनकी आबादी के अनुपात में नौकरियों में आरक्षण मिलना चाहिए। लेकिन यह एक असंभव माँग है, क्योंकि प्रायः नौकरियों में नयी बहाली की संख्या सीमित होती है और जातियों की संख्या हजारों में है। इससे बहाली में जातियों के बीच संतुलन कायम करना लगभग असंभव होगा। अब जब सरकारी और सार्वजनिक क्षेत्रों में नौकरियों में बहाली कम और छँटनी ज्यादा हो रही है, यह गणित बैठाना और भी मुश्किल होगा। इससे यह माँग

उठ रही है कि निजी क्षेत्र में भी आरक्षण की नीति लागू की जाए। इसे इस आधार पर खारिज कर दिया जाएगा कि घोर व्यापारिक प्रतिस्पर्धा के माहौल में निजी कंपनियाँ आरक्षण से आ रहे 'कम सक्षम' मजदूरों को बहाल कर अपना कारबार चौपट करने का जोखिम नहीं उठा सकतीं। सार्वजनिक क्षेत्र तो सदा से सामाजिक लक्ष्यों को सामने रख बहुत-सी ऐसी कल्याणकारी नीतियाँ अपनाते रहे हैं जिससे प्रतिष्ठानों की प्रतिस्पर्धा की क्षमता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। इसी तथ्य को सार्वजनिक क्षेत्र के निजीकरण का बहाना भी बनाया जाता रहा है। लेकिन इस दुश्चक्र से निकलने के लिए समाज के पूरे आर्थिक ढाँचे को बदलने की बात किसी के जेहन में नहीं आती। न तो किसी राजनेता में यह हिम्मत है कि यह कह सके कि आरक्षण लोगों की मूल समस्याओं का समाधान नहीं, सिर्फ पहले के घावों पर मरहम भर है। ऐसा कहने का अर्थ होगा उम्मीदों से भरी जातियों का कोपभाजन बनना और विकल्प तलाशने की चुनौती का सामना करना।

बुनियादी बात यह है कि आरक्षण के विवाद में तल्खी और इसके पीछे विस्फोटक ऊर्जा संचय का कारण प्रत्येक जाति के छोटे लेकिन मुखर समूह के अपने स्वार्थ का आरक्षण के साथ जुड़ा होना है। यह समूह अपने सीमित स्वार्थ को अपने पूरे जातीय समूह के स्वार्थ के रूप में पेश करता रहता है। लेकिन जिस हकीकत पर इस जोरदार विवाद से परदा पड़ जाता है वह यह है कि किसी भी जाति के बहुसंख्य लोगों की स्थिति में इस बात से रत्ती भर भी फर्क नहीं पड़ता कि उनकी जाति के दो-चार फीसदी व्यक्तियों को ऊँचे पद मिल जाएँ और कमाई आम लोगों से सौ या दो सौ गुना अधिक हो जाए। आधी शताब्दी के आरक्षण के बावजूद आज दलितों की आर्थिक स्थिति, खासकर ग्रामीण क्षेत्रों में लगभग वही है जो पचास साल पहले थी। जो इक्केदुक्के लोग नौकरियाँ पा कर थोड़ा समृद्ध हुए हैं, उलटे अपने समूह से कट कर बाबू लोगों के ऊपरी समुदाय में शामिल होने की कोशिश करते हैं। इनमें वैसे लोग, जो राजनीति में नेतागिरी करते हैं, यदाकदा जातीय वफादारी की याद दिलाने इनके बीच आ जाते हैं। इसी सीमित उद्देश्य के लिए विविध जातीय सेनाओं की बाढ़-सी पिछले कुछ वर्षों में आ गई है। लेकिन इससे आर्थिक दृष्टि से अत्यंत ही गरीब विशाल जन समुदाय को आर्थिक समता की किसी व्यापक राजनीति के इर्दगिर्द इकट्ठा करने की संभावना दिनोंदिन कमजोर होती गई है। उत्तर भारत में तो राजनीति लगभग पूरी तरह इन जातीय गिरोहों की जोड़तोड़ से निर्धारित होने लगी है। इससे सामाजिक स्तर पर जहाँ पारंपरिक जातीय भेदभाव कमजोर होने लगा है, राजनीति के स्तर पर ज्यादा रूढ़ और कटुतापूर्ण हो गया है। यथास्थितिवाद का शिकंजा मजबूत होते जाने की पृष्ठभूमि में यह जरूरी लगता है कि मूलभूत सामाजिक बदलाव की दृष्टि से विगत नीतियों का मूल्यांकन किया जाए।

संविधान और कानूनों के प्रावधानों से डॉ. आंबेडकर का एक मुख्य लक्ष्य तो

पूरा होता दिखाई देता है। अब दलितों की सामाजिक स्थिति में काफी बदलाव आया है और जो बाकी भेदभाव है, कालक्रम में वह भी निश्चित रूप से समाप्त होगा। इसमें सवर्णों की सोच में बदलाव भी एक कारक है। लेकिन ज्यादा महत्त्वपूर्ण यह है कि दलित अब अपने को सवर्णों से हेय समझने के लिए तैयार नहीं हैं और अपने प्रतिरोध में उन्हें लोकतांत्रिक चुनाव, संविधान और कानून सबकी सहायता प्राप्त है। फिर भी सैकड़ों वर्षों से रूढ़ हुए भेदभावपूर्ण व्यवहारों को यकायक तो बदला नहीं जा सकता इसलिए इन्हें पूरी तरह समाप्त होने में एक-दो दशक और लग सकते हैं। इस प्रक्रिया को अब उलटा नहीं जा सकता। लेकिन दलितों की बदहाली का जो सबसे बड़ा कारण है वह है उनकी आर्थिक विपन्नता। बिना अपवाद के वे देश के सभी भागों में भूमिहीन हैं और लगभग सभी जगह संपत्तिहीन भी। इसलिए वे आजीविका के लिए किसी-न-किसी तरह की मजदूरी पर निर्भर करते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में पिछड़ेपन के कारण वे प्रायः अकुशल मजदूर होते हैं और उनकी आय बहुत कम होती है। ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि के अलाभकर होते जाने या कम आय देने से इसमें काम करनेवाले मजदूरों—जिनमें ज्यादा संख्या दलितों या अत्यंत पिछड़ों की है—की आय न सिर्फ कम है बल्कि अनिश्चित भी है। इससे इनमें अधिकांश भुखमरी के कगार पर रहते हैं और आजीविका की तलाश में महानगरों के फुटपाथों और झुग्गी-झोंपड़ियों की शरण लेते हैं। दूसरे पास-पड़ोस के कस्बाई शहरों में दिहाड़ी मजदूरी की तलाश में भटकते रहते हैं। पैसेवालों के प्रभुत्व में चलनेवाले वर्तमान पूँजीवादी समाज में ऐसे विपन्न लोगों को कोई सामाजिक सम्मान नहीं मिलता। एक फर्क जरूर हुआ है। नगरों की झुग्गियाँ और फुटपाथ एक अर्थ में समता के स्कूल बनते जा रहे हैं। यहाँ पर न सिर्फ दलित और पिछड़े पनाह पाते हैं बल्कि आर्थिक मार से विस्थापित हुए गाँव के सवर्ण भी। जीवन का यह आधार ऐसा है जहाँ बिना जातीय भेदभाव के सभी गरीब समान धरातल पर डाल दिए जाते हैं। यह एक ऐसी पाठशाला बन सकती है जहाँ लोग यह सीख सकें कि सभी मनुष्य समान हैं। इस समझ, एकता और सहयोग के आधार पर ही किसी मानवीय समाज का निर्माण हो सकता है।

डॉ. आंबेडकर ने भविष्य के समाज की कोई समग्र रूपरेखा प्रस्तुत की हो इसकी मुझे जानकारी नहीं है। दलित भी तो शून्य में या अपने आप में संपूर्ण समाज में रह नहीं सकते। इसलिए अपेक्षा थी कि वे इस संबंध में कुछ विचार देते। ऐसा कुछ हो नहीं पाया। एक व्यक्ति के लिए सारे मोर्चे सँभालना संभव भी नहीं होता है। लेकिन वे भारतीय ग्रामीण व्यवस्था को जातीय भेदभाव और जहालत की जड़ मानते थे तथा दलितों का उद्धार वर्तमान औद्योगिक विकास और शहरी सभ्यता के विकास में देखते थे। यह ठीक है कि वर्तमान औद्योगिक समाज ने जिस तरह की विषमता और प्रदूषण की समस्या पैदा की है वह आज से आधी शताब्दी पहले तक

लोगों की निगाह में नहीं थी। लेकिन यह तो उस समय भी देखा जा सकता था कि भारतीय नगरों में जातीय भेदभाव समाप्त नहीं हो रहे थे, और ऐतिहासिक कारणों से, जिसका जिक्र पहले हुआ है, अधिकांश दलित नगरों और महानगरों के निम्न स्तर पर ही स्थान पाते थे। नगरों में भी एक तरह का आवासीय विभाजन जातीय आधार पर हो रहा था, जिसके मूल में आर्थिक विभाजन था। इसका मेरा निजी अनुभव मुंबई का है, जब 1952 के चुनाव में मैं डॉ. आंबेडकर के लिए वर्ली-नायगांव के लोकसभा निर्वाचन क्षेत्र में काम कर रहा था। मैं वर्ली-परेल के मजदूर क्षेत्र में एक सोशलिस्ट कार्यकर्ता था। चूंकि, जैसा पहले कहा गया है, सोशलिस्टों का डॉ. आंबेडकर से समझौता था, इसलिए उनके लिए काम कर रहा था। वर्ली में बड़ी संख्या में मजदूरों के लिए आवासीय ब्लॉक बने थे, जिन्हें चाल कहा जाता था। इनमें कम आय वाले अकुशल मजदूर रहते थे और इनमें कुछ चालों में तो पूरे-के-पूरे महार—जो आंबेडकर की अपनी जाति के लोग थे—रहते थे। इन लोगों में चुनाव के समय काम करते हुए यह देखने को मिला कि महारों में विलक्षण एकता थी। लेकिन यह एकता जातीय थी। हालाँकि तात्कालिक चुनावी समझौते के कारण वे दिल से समाजवादियों के लिए वोट दिलाने का काम कर रहे थे, लेकिन जातीय भावना से ऊपर उठ सभी मजदूरों की एकता की समझ, जो आधुनिक उद्योगों के विकास से अपेक्षित थी, नहीं दिखाई देती थी। इस तरह की भावना वैसे इलाकों में जरूर थी जहाँ डॉ. आंबेडकर के प्रभाव की बजाय मजदूर सोशलिस्टों के प्रभाव से यूनियनों से जुड़े थे। लेकिन यहाँ भी श्रमिक और दूसरे कामों में लगे लोग अपनी पारंपरिक जातीय चेतना से मुक्त नहीं थे। फिर, बाद में मुंबई में शिवसेना के बढ़ते प्रभाव और अहमदाबाद में जातीय और सांप्रदायिक विभाजन ने डॉ. आंबेडकर की उस उम्मीद को अति आशावादी सिद्ध कर दिया है जिसके अनुसार, औद्योगिक नगरों के विकास से जातीय मानसिकता से मुक्ति मिल सकती है। संयोग से मार्क्सवादियों का चिंतन भी इस प्रश्न पर डॉ. आंबेडकर से मिलता-जुलता था। उन्हें भी औद्योगिक पूँजीवाद के स्टीम रॉलर की पिछले सारे संबंधों को सपाट कर देने की क्षमता में गहरा विश्वास था। लेकिन पूँजीवादी उद्योगीकरण के तहत न भारत में और न दुनिया में पारंपरिक ऊबड़-खाबड़ के समतलीकरण की प्रक्रिया दिखाई पड़ती है। यूरोप के सबसे विकसित औद्योगिक देशों में ही गैर-यूरोपीय मूल के लोगों से सबसे अधिक भेदभाव है।

वर्तमान उद्योगीकरण का असली प्रभाव यह हुआ है कि अमीरों और गरीबों के बीच की खाई ज्यादा चौड़ी हुई है और निदोदिन ज्यादा-से-ज्यादा लोग बेरोजगारी के शिकार बनाकर समाज के हाशिए पर डाल दिए जा रहे हैं। हाशिए पर धकेल दिए गए लोगों में विशाल बहुमत शूद्रों और दलितों का ही है। इसलिए दलितों और पिछड़ों के लिए

मानवीय समाज रचना की संभावना को अंततोगत्वा ग्रामीण और विकेंद्रित व्यवस्थाओं के भीतर ही ढूँढ़ना होगा। वर्तमान पूँजीवादी समाज का एकमात्र देवता सफलता और धन संचय है। यह अपने अभियान में रौंदे गए लोगों की ओर मुड़कर नहीं देखता। डॉ. राममनोहर लोहिया का विकेंद्रित व्यवस्था पर बल, जिसमें छोटी मशीनों को प्राथमिकता होगी, किसी भी भावी मानवीय व्यवस्था के लिए आज ज्यादा प्रासंगिक लगता है। हाल के औद्योगिक विकास के परिणामों को अगर हम भविष्य का संकेत मान लें तो गाँव से विस्थापित गरीबों और विशेषकर दलितों का स्थान नगरों के नरकों में ही होने की संभावना है—इक्के-दुक्के अपवादों को छोड़ दें तो।

यहाँ इस बात की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक लगता है कि आधुनिक उद्योगीकरण की चक्की में जो समूह आंशिक सुरक्षा पा सके हैं वे पारंपरिक उद्योगों और पेशों से जुड़े हैं। जैसे बढ़ई, लोहार, सोनार, बुनकर, दरजी, जूते बनानेवाले, चमार, मछुआरे, नाई आदि। इनमें सभी शूद्र या दलित जातियों के हैं, या कुछ पिछड़े मुसलमान, जैसे जुलाहे। इन जातियों ने आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था की आवश्यकता के अनुसार अपने पारंपरिक काम को थोड़ा-सा आवश्यक मोड़ दे दिया है। जैसे सोनारों ने अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के हिसाब से जेवर बनाने का काम, आगरे के जाटवों ने आधुनिक ढंग के जूते बनाने का काम, नाइयों ने कस्बों और नगरों में सैलून खोलकर और दरजियों ने अंतर्राष्ट्रीय बाजार के अनुसार सिले कपड़े तैयार करने का काम शुरू कर दिया है। ये और दूसरे ऐसे ही शिल्प आज दुनिया में भारत में विदेशी मुद्रा के सबसे महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं। हकीकत यह है कि इनमें उत्पादन के अधिकांश क्षेत्र ऐसे हैं जिनमें 'मास प्रोडक्शन' के आधुनिक उद्योग समान व्यय के भीतर इन पारंपरिक उद्योगों का मुकाबला नहीं कर सकते। चूंकि यह विषयांतर होगा इसलिए यहाँ भविष्य में इन उद्योगों की भूमिका पर ज्यादा कुछ नहीं कहा जाएगा। लेकिन आधुनिक उद्योगों में बेगानेपन की जो समस्या पैदा हो गई है, उसका समाधान ऐसे ही उद्योगों के विकास में दिखता है, जो उद्योग के साथ-साथ निर्माता की भावना से जुड़ा कला-कर्म भी है, जैसा हस्तकला या शिल्पकला उद्योग नाम से भी ज्ञात होता है। समता और सहयोग पर आधारित भविष्य के किसी समाजवादी समाज से ऐसे उद्योगों का स्वाभाविक रिश्ता बनता है।

डॉ. लोहिया की जाति-नीति ने एक समय तो पिछड़े समूहों को समाजवादी राजनीति से जोड़ा। लेकिन आगे चलकर, जैसा ऊपर जिक्र हो चुका है, यह एकता छोटे जातीय गिरोहों में बँटकर बिखर गई। एक कारण तो यह था कि इसके सामने कुछ स्थानों पर दावेदारी को छोड़ कोई बड़ा सामाजिक लक्ष्य नहीं रह गया था।

मूलभूत सामाजिक बदलाव पर सोचते हुए यह सवाल फिर खड़ा हो जाता है कि अगर विकेंद्रीकरण का ही लक्ष्य मान लें तो नयी तरह के उद्योगों के आधार पर समतावादी व्यवस्था खड़ा करने में समाज का कौन-सा हिस्सा अगुआ बनेगा।

एक बात तो सहज ही समझ में आती है कि नये समाज के निर्माण में उन्हीं समूहों की विशेष भागीदारी होगी जिन्हें वर्तमान समाज के ढाँचे में कोई सम्मानजनक स्थान पाने की गुंजाइश नहीं दिखाई देती—यानी जो सबसे नीचे का वंचित समाज है। हालाँकि इतिहास के रुझानों के अध्ययन में मार्क्स ने अपनी आशावादिता में इसकी प्रक्रियाओं को अति सरलीकृत कर दिया था, फिर भी उसकी यह मान्यता बुनियादी रूप में सच थी कि समाज का उद्धार इसके उसी वर्ग द्वारा हो सकता है जो संपूर्णतया वंचित हो। जब नीचे का धरातल ऊपर उठेगा तो पूरा समाज उसके साथ ऊपर आएगा। यह उसका 'सर्वहारा' वर्ग था। एक तरह से महात्मा गाँधी का समाज के संबंध में कोई भी नीति बनाने के समय अपने सामने अंतिम व्यक्ति की तस्वीर रखने की सलाह का भी तात्पर्य यही था। यह तर्क, कि मार्क्स ने तो सर्वहारा द्वारा स्वयं क्रांति की अगुआई की बात की थी, महज बहस का मुद्दा है। लेनिन या दूसरे मार्क्सवादियों ने, जिन्होंने समाज परिवर्तन की प्रक्रिया को चलाया, दरअसल सर्वहारा के प्रति प्रतिबद्ध समाजवादी बुद्धिजीवियों की भूमिका को ही महत्त्व दिया। साथ ही इन समाजवादी बुद्धिजीवियों को अपने को वर्गच्युत करने की हिदायत दी गई और सर्वहारा में आधार स्थापित करने को प्रेरित किया गया। यहाँ हम इस बहस में नहीं पड़ेंगे कि मार्क्सवादियों ने अपने आदर्शों के प्रति कितनी ईमानदारी निभाई या कितना सफल हुए। एक बात साफ है कि भारतीय समाज में क्रांति और समाज के नवनिर्माण की ऊर्जा का स्रोत और आधार वर्तमान औद्योगिक व्यवस्था द्वारा बनाए गए नये सर्वहारा ही होंगे। ये सर्वहारा संगठित औद्योगिक क्षेत्र के मजदूर नहीं हैं बल्कि इस औद्योगिक व्यवस्था के विकास के क्रम में निचोड़ कर अवशिष्ट रूप में समाज के हाशिए पर फेंके गए लोग हैं। ये नगरों की गंदी बस्तियों, झुग्गियों और फुटपाथ पर फेंके गए लोग भी हैं और गाँवों में दम तोड़ती खेती में लगे छोटे किसान, खेत मजदूर और मर रहे पारंपरिक उद्यमों से किसी तरह गुजर करते कारीगर आदि भी हैं। एक सरसरी निगाह से भी हम देख सकते हैं कि इन समूहों में अपनी आबादी के अनुपात में सबसे अधिक दलित हैं। हालाँकि यह भी सच्चाई है कि वर्णों का लिहाज किए बगैर यह व्यवस्था बड़ी संख्या में द्विजों को भी इन नव दलितों में शामिल कर रही है। गाँव के पंडित-कुल के किशोर भी नगरों में किसी दलित राजमिस्त्री की निगरानी में सड़क पर बालू और गिट्टी फैलाने का काम करते देखे जा सकते हैं। पूँजीवादी औद्योगिक समाज अपने इर्दगिर्द और दूरदराज के गाँवों में मजबूरियों की भट्ठी में विविध सामाजिक समूहों को दरिद्रता के नये साँचे में ढाल रहा है। इस तरह संगठित औद्योगिक पूँजीवादी समाज अपने बाहर और अपने समानांतर एक भयावह और प्रतिवादी समाज खड़ा कर रहा है। वर्तमान औद्योगिक पूँजीवाद को नष्ट कर, इससे बाहर नये समतामूलक समाज निर्माण की ऊर्जा इस नये बहिष्कृत समाज से ही मिलेगी।

ऊपर की बातों में शायद मार्क्स के उस चिंतन की अनुगूँज सुनाई देगी जिसमें उसने पूँजीवाद को स्वयं को नष्ट करनेवाले सर्वहारा वर्ग का जनक कहा था और इसी के माध्यम से समाजवादी समाज के निर्माण की कल्पना की थी। लेकिन यहाँ प्रस्तुत की गई दृष्टि और मार्क्स की दृष्टि में एक बुनियादी भेद है। मार्क्स ने माना था कि पूँजीवाद अपने विकास-क्रम में उन उत्पादन-साधनों का विकास कर रहा है जिसके आधार पर भविष्य का समाजवादी समाज बनेगा। डेढ़ सौ साल के अनुभवों और समाजवाद स्थापित करने के दो साहसपूर्ण प्रयोगों—सोवियत यूनियन एवं कम्युनिस्ट चीन के प्रयोग—ने यह सिद्ध कर दिया है कि पूँजीवाद द्वारा विकसित तकनीक का ढाँचा समाजवादी प्रयोगों के लिए माफिक नहीं बैठता, और इस तकनीक को अपनाने के प्रयास में दोनों देशों की व्यवस्थाएँ ध्वस्त हो गई और पूर्ण रोजगार देने की अपनी प्रतिबद्धता को छोड़ उन्होंने पूँजीवाद के उन्मुक्त बाजार और प्रतिस्पर्धा की व्यवस्था के सामने घुटने टेक दिए। दूसरी ओर, भारत सहित तीसरी दुनिया के विकासशील कहे जानेवाले तमाम देशों में वर्तमान तकनीक और स्पर्धा पर आधारित पूँजीवाद के विकास का परिणाम अनिवार्य रूप से नगरों में गंदी बस्तियों और झुग्गियों के विस्तार और गाँवों तथा कसबों में बेरोजगारी और विस्थापन के विस्तार के रूप में हो रहा है। इसलिए आज की स्थिति में किसी समतावादी समाज या समाजवाद की स्थापना के लिए नयी तरह की तकनीक का और उत्पादन के लिए मनुष्यों के बीच नयी तरह के सहयोग का आधार ढूँढ़ना होगा। आधुनिक पूँजीवादी तकनीक के भीतर लोगों की स्थितियों में बराबरी और सहयोग की कोई गुंजाइश नहीं है। इस तकनीक में उत्पादन और विपणन दोनों का ढाँचा अनिवार्य रूप से सोपानवत (हाइरार्किक) होता है जिसमें ऊपर से नीचे तक लोगों का संबंध वर्चस्व एवं दबाव जनित संयोजन का होता है। इसीलिए अब चारों ओर 'जब चाहो बहाल करो और जब चाहो निकाल दो' के दर्शन को दुबारा स्थापित करने की कोशिश हो रही है जिसे कभी मजदूर आंदोलन के दबाव में नियंत्रण में रखा गया था। यह उत्पादकों के पारस्परिक सहयोग पर आधारित उत्पादन व्यवस्था का प्रतिलोम है।

ऐसे नये समाज की दिशा में परिवर्तन का नेतृत्व किस समूह के हाथों में होगा इसका थोड़ा अंदाज देश की राजनीति के क्रमिक विकास के परिप्रेक्ष्य में किया जा सकता है। प्रारंभ में राष्ट्रीय आंदोलन और समाजवादी आंदोलन (कम्युनिस्ट आंदोलन समेत) का नेतृत्व मूलतः द्विजों के हाथ में था। हालाँकि इसने राष्ट्रीय और सामाजिक उद्देश्यों के लिए अपने साथ समाज के सभी वर्गों की भावनाओं और प्रयासों को जोड़ा था। आजादी के बाद के काल में पिछड़ी या मध्य जातियों का वर्चस्व देश की राजनीति में कायम रहा है। फिलहाल हम लोग इसी दौर से गुजर रहे हैं। हालाँकि मध्य जातियों में सवर्णों की अपेक्षा पूँजीपति या दूसरे संपन्न वर्ग कम हैं, फिर भी इनकी संख्या काफी है। इन वर्गों का नेतृत्व इन जातियों में सहज ही कायम हो

जाता है। अतः मध्य जातियों के वर्चस्व में चलनेवाली लगभग सभी राजनीतिक पार्टियाँ उन्मुक्त बाजार और भूमंडलीकरण की समर्थक हैं। इन जातियों के संपन्न नेताओं और आर्थिक सहयोग देनेवाले दूसरे लोगों को भूमंडलीकरण की अर्थनीति में अपना स्थान सुरक्षित लगता है। इसी से एक के बाद एक मध्य जातियों का पूरा नेतृवर्ग वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था के समर्थकों द्वारा को-ऑप्ट कर लिया गया है। भारत के समाज में अकेला एक समूह ऐसा है जो पूरे देश में भूमिहीन और संपत्तिहीन है। यह दलितों का समूह है, भले ही इसके इक्केदुक्के नेता सफेदपोश बन जाएँ और किसी ऊँचे पद पर पहुँच कर वर्तमान व्यवस्था के समर्थक बन जाएँ। लेकिन वे अपने समूह को इस व्यवस्था से बाँध नहीं सकते क्योंकि इस समूह को इस व्यवस्था में सब कुछ गँवाना ही है, कुछ पाना नहीं।

दलितों का यह समूह सामाजिक परिवर्तन के अगुआ के रूप में जब आगे आएगा तब उन सभी लोगों को अपने साथ समेट कर ही, जो इस व्यवस्था से पीड़ित हैं। ऐसी व्यापक एकता के बिना पूँजीवाद के ढाँचे को तोड़ना संभव नहीं। और, जैसा ऊपर कहा गया है, देश का ज्यादा से ज्यादा हिस्सा धीरे-धीरे औद्योगिक पूँजीवादी समाज के हाशिए पर डाला जा रहा है। इसलिए यह संभावना बनती है कि एक नया सामाजिक गठजोड़ समाज में बुनियादी परिवर्तन के लिए बनेगा जिसमें दलित धुरी या आधार की भूमिका निभाएँगे। जब दलित अपने व्यक्तिवादी नेताओं की नीतियों की सीमाओं को पहचान कर मूलभूत सामाजिक बदलाव और पूँजीवाद के विरोध में विकेंद्रित समाजवादी समाज की नीति अपनाएँगे तो वे पूँजीवाद के द्वारा दूसरे वर्णों से भरती किए जा रहे नये दलितों के विशाल जन समूह को भी अपने साथ जोड़ सकेंगे। आज भारत समेत विश्व के लिए भविष्य की यही एकमात्र संभावना है, क्योंकि वर्तमान पूँजीवाद संसार को अनिवार्य रूप से पर्यावरण के क्षय और धरती के विनाश की ओर ले जा रहा है। अमरीका और यूरोप के लोग पूँजीवाद की नयी उपभोक्तावादी संस्कृति के ऐसे गुलाम बन चुके हैं कि वे इस व्यवस्था के व्यूह से निकलने में असमर्थ हैं। विकल्प की संभावना आज भारत जैसे गैर-औद्योगिक गरीब मुल्कों में ही है।

□□